# समाजवाद और राष्ट्रीय क्रान्ति

लेखक

आचार्य नरेन्द्रदेव

सम्पादक

यूसुफ मेहरअली

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक :
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं०, लि०
होस्पिटल रोड, आगरा।

मूल्य ४)

मुद्रक :
प्रियम्बदा प्रिंटिंग प्रेस,
नौबस्ता, आगरा।

# प्राक्कथन

कांग्रेस का अधिवेशन आचार्य नरेन्द्रदेव के अपने प्रान्त मेरठ में हो रहा है। इस अवसर पर उनके प्रमुख लेखों और भाषणों का प्रथम चुनीदा सङ्कलन प्रकाशित होना उचित ही है।

मार्च सन् १९४० में रामगढ़ में हुए कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन के पश्चात् हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन को अग्नि-परीक्षा में से गुजरना पड़ा है। संघर्ष और तूफान के छै वर्षों में लगभग चार नरेन्द्रदेव जी ने जेल में काटे। इससे उनके दुर्बल स्वास्थ्य को जो भारी आघात पहुँचा, वह अकथनीय है। इधर साल भर से तो बीमारी ने देश को उनके दिन प्रति दिन के पथप्रदर्शन और नेतृत्व से बिलकुल वञ्चित कर दिया है। यह कितनी भारी क्षति है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सभी जानते हैं कि अपने प्रान्त के और देश के राजनैतिक जीवन में, कांग्रेस में और समाजवादी तथा अन्य तत्सम्बन्धित आन्दोलनों में उनका कितना अग्रणी स्थान रहा है। अतः जो व्यक्ति उनके सक्रिय सामाजिक जीवन में पुन: लौट आने की प्रतीक्षा करते रहे हैं, वे इस पुस्तक का और भी अधिक स्वागत करेंगे।

पुस्तक का नाम 'समाजवाद और राष्ट्रीय क्रान्ति' ही इसके स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है। समाजवाद विचारों को अब कांग्रेस और देश ने बहुत कुछ मान लिया है। परन्तु बारह वर्ष पूर्व सन् १९३४ में जब कांग्रेस समाजवादी पार्टी का निर्माण हुआ था, तब उसकी स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं थी। भारत जैसे देश में, जो विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहा हो, समाजवादियों का क्या स्थान और कर्त्तव्य हो? सामाजिक क्रान्ति और राष्ट्रीय क्रान्ति की शक्तियों में परस्पर क्या सम्बन्ध हो? ऐसे प्रश्नों के उत्तरों का सैद्धान्तिक ही नहीं, बल्कि भारी व्यावहारिक महत्व था—देश के लिए भी और समाजवादियों के लिए भी।

ये समाजवादी सभी उत्साही और लग्न के कांग्रेसी थे और उनमें से बहुतों ने अपने राजनैतिक जीवन के प्रायः सभी वर्ष कांग्रेस के नेतृत्व में जनता की लड़ाई लड़ने में लगाये थे।

आगे के पृष्ठ कांग्रेस समाजवादी पार्टी की गतिविधि पर उसके एक प्रमुख प्रवक्ता के कथनों द्वारा प्रकाश डालते हैं। कांग्रेसी समाजवादियों ने बहुधा अपनी बात के पिटते रहने पर भी, कांग्रेस के अनुशासन का पूर्णतः पालन करते हुए, राष्ट्रीय आन्दोलन के ऊपर एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम की छाप लगाने का प्रयास किया था। उसका सहयोग पर्याप्त रहा हो अथवा नहीं, कम से कम उन्होंने राष्ट्रीय एकता को बनाये रख कर कांग्रेस के आधार को विस्तृत बनाने, और उसकी शक्ति को विदेशी शासन और देशी शोषण के विरुद्ध एक ऐसे मार्ग की ओर प्रेरित करने का पूर्ण प्रयत्न किया था, जो उनकी समझ में सच्चा क्रान्तिकारी मार्ग था। इसके अतिरिक्त इतने वर्षों के कठोर थपेड़ों में, जेल और उससे भी भयंकर अन्य यातनायें सहते हुए भी, कांग्रेस के प्रति वे सदैव सच्चे रहे हैं।

उनके खराब स्वास्थ्य के कारण मैंने आचार्य जी को प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों से तङ्ग नहीं किया है। यथार्थ में, यदि उनकी इच्छा को चलने दिया जाता, तो पुस्तक कभी प्रकाश में आ ही न पाती। अतः इसमें प्रस्तुत सामग्री का चयन करने और उसको क्रमबद्ध करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा है। यदि इसमें कोई त्रुटियां रह गई हों तो वे भी मेरी ही हैं।

मैं बी० एच० भुखनवाला और पिनाकिन पटेल को हार्दिक धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने इस पुस्तक की तैयारी और प्रकाशन में मेरी सहायता की है।

१४ नवम्बर, १९४६। यूसुफ मेहरअली।

# आचार्य नरेन्द्रदेव

## (लेखक—यूसुफ मेहरअली)

आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय समाजवादियों के दद्दा हैं। युवकों की पार्टी में वही एक बूढ़े बड़े हैं। आज वे ५७ वर्ष के हो चुके।

अनेक वर्षों से विद्वता और राजनीति के दोनों क्षेत्रों में वे अग्रणी रहे हैं। ऐसा समन्वय कम देखने को मिलता है। असहयोग आन्दोलन के जोशीले दिनों में उन्होंने अपने प्रासाद-सम घर के सुखों और चलती हुई वकालत को लात मार दी और सक्रिय राजनीति में वे पिल पड़े। उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन भी जोर पकड़ता गया। जब सन् १९२१ में काशी विद्यापीठ की बनारस में स्थापना हुई तो नरेन्द्रदेव जी को उसमें अध्ययन के लिए आमन्त्रित किया गया। पाँच वर्ष के पश्चात सन् १९२६ में, वे विद्यापीठ के अध्यक्ष बने। उस समय से लेकर अब तक लगभग चौथाई शताब्दी से, उस महान् संस्था से उनका सक्रिय सम्बन्ध चला आ रहा है।

वे जितने प्रसिद्ध विद्वान हैं, उतना साहित्य उन्होंने नहीं सृजा है। जीवन में उनके सामने विशुद्ध पठन-पाठन और राजनीति में से एक को चुन लेने का प्रश्न आया और उन्होंने राजनीति को चुना। इससे भारत के ऐतिहासिक अनुसन्धान को कितनी क्षति पहुँची, यह बहुत थोड़े व्यक्ति जानते हैं। नरेन्द्रदेव जी के पिता बाबू

बसदेवप्रसादजी, जो एक प्रतिष्ठित वकील थे, स्वभावतः यह चाहते थे कि उनका प्रतिभाशाली पुत्र अपने पिता के चरण-चिन्हों पर चले और उनकी वकालत और कानूनी साख का उत्तराधिकारी बने। स्वय नरेन्द्रदेवजी ने एक बार पुरातत्ववेत्ता बनने की उत्सुकता दिखाई, और इसके लिए वे बनारस के क्वीन्स कालेज में भर्ती भी होगये जो उस समय संयुक्तप्रान्त में पुरातत्वविद्या को पाठ्यक्रम में स्थान देने वाली एक ही शिक्षण संस्था थी। परन्तु जब सन् १६१३ मे उन्होंने एम० ए० की डिग्री ली, तो उन्होंने निर्णय किया कि एकान्त अध्ययन का जीवन उनके लिए नहीं है। उन्होंने देखा कि अधिकांश राजनीतिक नेता वकील हैं, और स्वयं भी वकील बनने की ठान ली। सन् १६१५ में कानूनी विद्या समाप्त करते ही, वे फैजाबाद लौटे और वहां की होमरूल लीग का मन्त्रिपद ग्रहण किया।

राजनीति अल्प आयु से ही उनके लिए आकर्षण का विषय रही है। सन् १८६६ में, केवल दस वर्ष की अवस्था में उन्होंने कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन को अपने पिता के साथ देखा था, जो प्रतिनिधि थे। रमेशचन्द्रदत्त थे प्रधान। साथ ही अखिल भारतीय सामाजिक कान्फ्रेंस की बैठक भी रानाडे की यशस्वी अध्यक्षता में हुई। परन्तु नरेन्द्रदेवजी के नायक तो तिलक थे, जो अभी अभी यरवदा सेन्ट्रल जेल से छूटकर आये थे। कार्यवाही सब अङ्गरेजी में हुई और नरेन्द्रदेवजी की समझ में कुछ न आया, परन्तु वे अपनी जगह पर चिपके हुए बैठे रहे। यह तिलक की पहिली झाँकी उन्हें मिली और इससे उनमें तिलक के प्रति श्रद्धा पैदा होगई।

जब वे हाईस्कूल मे पढ़ते थे, तब राजनीतिक क्षितिज पर बंग भंग के विरुद्ध आन्दोलन का गुबार छा गया। सम्पूर्ण भारत के

विद्यार्थी समुदाय में बड़ा जोश था और बंगाल के प्रति तीव्र सहानुभूति थी। नरेन्द्रदेवजी जो केवल १७ वर्ष के थे, सन् १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस में दर्शक के रूप में सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन में प्रधान-पद से दादाभाई नौरोजी ने भारत का ध्येय स्वराज्य बताया। यही 'स्वराज्य' शब्द आगे चलकर राष्ट्र की चेतना मे घर कर गया और उसकी स्वतन्त्र होने की इच्छा की प्रतीक एक जादू भरा मन्त्र बन गया।

नरमदलवालों और उग्रराष्ट्रवादियों में संघर्ष जोरों पर था। नरम दल के नेता थे फीरोजशाह मेहता, गोखले, और सुरेन्दनाथ बनर्जी और गरमदल के थे तिलक और अरविंद घोष। कांग्रेस के प्रधान के महान व्यक्तित्व के कारण दोनों पक्ष कांग्रेस में बने रहे। परन्तु उनका कार्यक्रम अधिकाधिक वामपक्ष से प्रभावित होता गया।

कलकत्ते में नरेन्द्रदेवजी को गरमदल के कुछ बड़े नेताओं के भाषण सुनने को मिले जिनमें अरविन्द घोष और विपिनचन्द्रपाल उल्लेखनीय हैं। अरविन्द जी के प्रसिद्ध अभिभाषण "नई पार्टी के सिद्धान्त" में भी वे उपस्थित थे। अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ और दोनों दलों के तीव्र मतभेदों के कारण संगठन टूट गया। गरमदल वाले कांग्रेस से निकाल दिये गये और गरमदल वालों ने अपनी एकाकी राह अपनाई।

नरेन्द्रदेव जी के विद्यार्थीकाल में इलाहाबाद राष्ट्रवादी पार्टी ( गरमदल वालों ) का गढ़ था यद्यपि नरमदलवालों के तीन गण्य-मान्य नेता—पं० मदनमोहन मालवीय, डाक्टर तेजबहादुर सप्रू और मुंशी ईश्वरशरण वहीं निवास करते थे। जब सन् १९०७ में तिलक वहां पधारे तो इन ऊँचे नेताओं में से किसी ने उन्हें लिवाने जाने का कष्ट नहीं उठाया। हाँ विद्यार्थीगण सैकड़ों की संख्या में स्टेशन पर उपस्थित थे। सारे इलाहाबाद में तिलक के स्वागत के लिए अकेले बाबू चारुचन्द्र चटर्जी ही अपनी गाड़ी देने के लिए

राजी हुए। विद्यार्थियों ने घोड़ों को गाड़ी में से खोल दिया और स्वयं गाड़ी खींचने पर तुल गए। अन्त में उस महान् नेता ने उन्हें अपने जोश को किसी अच्छे उद्देश्य के लिए सुरक्षित रखने की सलाह दी। इन सब विद्यार्थी-प्रदर्शनों में नरेन्द्रदेव जी प्रमुख पात्रों में से एक थे।

इलाहाबाद का म्यूर कालेज-छात्रावास जहां नरेन्द्रदेव जी रहते थे राजनीतिक उद्विग्नता से परिपूर्ण था। विद्यार्थी लोग अपनी पाठ्य-पुस्तकों में आधी रात तक सर खपाने के स्थान पर देश के राजनैतिक भविष्य के ऊपर लम्बे चौड़े वादविवाद किया करते थे। गरमदल वालों को निकाल देने से कांग्रेस की लोकप्रियता काफी कम हो गई थी और तरुण और क्रियाशील तत्व उससे दूर हो गये थे। सन् १९०८ में राजद्रोह के अपराध में तिलक को फिर छै साल के कारावास का दण्ड मिला और उन्हें बर्मा की मांडले जेल में ले जाया गया। अरविन्द घोष को भी लम्बे न्याय-विचार के लिए बंदी रखा गया।

राष्ट्रीय पार्टी के वक्ता जिनमें लाला लाजपतराय, विपिनचंद्र पाल और देहली के एक गरमागरम कवि और व्याख्याता सैयद हैदररजा थे, देश के प्रमुख शहरों में धूम मचाते फिरे और जहां कहीं वे गये, उन्होंने युवकों को अपने पक्ष में कर लिया। इसी समय लाला हरदयाल जो यूरोप में श्यामजीकृष्ण वर्मा के प्रभाव में आगये थे, इङ्गलैंड से अपनी पढ़ाई छोड़ कर भारत लौट आये। उन्होंने राजनीति में भाग लेने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार किया। उसमें रमेशचंद्रदत्त और दादाभाई नौरोजी की पुस्तकें, भारतीय इतिहास, विदेश-विषयक पुस्तकें और विशेषतः मेजिनी का साहित्य था। इसका नरेन्द्रदेव जी पर काफी प्रभाव हुआ।

गरमदल वालों के समर्थक इलाहाबाद से दो पत्र भी निकाल रहे थे। इनमें से एक तो उर्दू साप्ताहिक "स्वराज्य" था, जिसके अनेक सम्पादक जेल गये, और दूसरा हिंदी "कर्मयोगी" था। इसके सम्पादक थे पं० सुंदरलाल जिनको अपनी राजनीतिक हलचलों के कारण विश्व-विद्यालय से निकाल दिया गया था और जो इसलिये अपनी डिग्री भी नहीं ले पाये थे।

ऐसे वातावरण में नरेन्द्रदेव जी रहते और चलते फिरते थे। वे एक अच्छे विद्यार्थी थे और जो क्रांतिकारी पुस्तकें उनके हाथ पड़ जाती थीं, उन्हें वे बड़े चाव से पढ़ते थे। क्रोपाटकिन की "एक क्रान्तिकारी के संस्मरण" और "पारस्परिक सहायता" जैसी पुस्तकें कुमारस्वामी के राष्ट्रीय आदर्शवाद विषयक लेख, अरविंद घोष और लाला हरदयाल की रचनायें और तुर्गनेव की कहानियां उन्हें विशेष प्रिय थीं। गैरीबाल्डी की जीवनी और मैजिनी का छै जिल्दों मे छपा साहित्य जिसमें उसकी "मनुष्य के कर्त्तव्य" नामक रचना भी थी, उन्होंने उत्साह और लगन से पढ़े। और भी उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ीं जिनमें फ्रेंच क्रांति-विषयक ग्रंथ ब्लंशली की "राज्य की थ्यूरी" और बहुत सा रूस का अराजकतावादी साहित्य था जहां के नेताओं और लोगों पर सन् १६०५ की क्रांति से भयंकर दमन ने एक नवीन दिव्य ज्योति छिटका दी थी।

यह बात ध्यान देने की है कि नरेन्द्रदेव जी के समकालीन विद्यार्थियों में पंडित गोविंदवल्लभ पंत, डाक्टर कैलाशनाथ काटजू, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, और महाकोशल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान ठाकुर छेदीलाल थे। इनमें से पं० गोविंदवल्लभ पंत उस समय बी० ए० में थे, जब नरेन्द्रदेव जी फर्स्ट ईयर मे थे; डाक्टर काटजू एम० ए० में पढ़ते थे और बाबू शिवप्रसाद गुप्त और

ठाकुर छेदीलाल नरेन्द्रदेव जी के सहपाठी और अभिन्न मित्र थे।

राजनीति के बारे में नरेन्द्रदेव जी कितने गम्भीर थे, यह इस बात से स्पष्ट हो जायगा कि राष्ट्रवादियों के कांग्रेस से निकाल दिए जाने पर उन्होंने सन् १९१० में कांग्रेस अधिवेशन की ओर झाँककर भी नहीं देखा यद्यपि वह अधिवेशन इलाहाबाद में ही हो रहा था! सर विलियम वैडरबर्न ने, जो प्रधान थे, कांग्रेस के दोनों पक्षों को मिलाने का एक और प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल न हो सके।

सन् १९१६ में जाकर कांग्रेस में एकता पुनर्स्थापित हुई। तिलक, गोखले, जिन्ना, और औरों के संयुक्त प्रयत्नों से कांग्रेस और मुस्लिम लीग में लखनऊ पैक्ट नामक समझौता हुआ। नरेन्द्रदेव जी जो फैजाबाद में वकालत कर रहे थे, और जो होमरूल लीग के सैक्रेटरी थे, लखनऊ कांग्रेस में पहले-पहल प्रतिनिधि की हैसियत से आये। तब से लेकर अबतक वे कांग्रेस के सभी अधिवेशनों में सम्मिलित हुए हैं। केवल कोकानाड़ा (१९२३) और मदरास (१९२६) के अधिवेशन में वे दमे के प्रकोप के कारण सम्मिलित नहीं हो पाए।

असहयोग आन्दोलन से भारत में वस्तुतः नवजीवन आ गया। राष्ट्रीय शिक्षा को बढ़ावा मिला और श्री० शिवप्रसाद गुप्त ने काशी विद्यापीठ की स्थापना के लिए दस लाख का दान दिया। श्रद्धेय बाबू भगवानदास, दार्शनिक और ऋषि उसके अध्यक्ष बने, आचार्य कृपलानी उपाध्यक्ष,और बाबू सम्पूर्णानन्द दर्शन के आचार्य। नरेन्द्रदेवजी सन् १९२० की नागपुर कांग्रेस के पश्चात वकालत छोड़ चुके थे। अतः उनके अभिन्न मित्र और सहपाठी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने उनसे विद्यापीठ में आ जाने का आग्रह किया। अन्त में जवाहरलाल जी के अनुरोध से उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी।

सन् १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में कांग्रेस ने सम्पूर्ण

ब्रिटिश माल विशेषकर कपड़े का पूर्ण बहिष्कार करने की आज्ञा प्रचारित की थी। संयुक्त प्रांत में बस्ती और गोरखपुर नेपाल को कपड़ा भेजने के मुख्य केन्द्र थे। बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, शिवप्रसाद गुप्त, और आचार्य जी इसे रोकने और विदेशी कपड़े के स्टाक पर मुहर लगाने के लिए बस्ती गये। उन सबको गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। नरेन्द्रदेव जी जेल में बहुत बीमार रहे, और जेल से छूटने पर भी वैसे ही बने रहे। सन् १९३१ में गान्धी इरविन समझौते के दिनों में उन्हें लगभग प्रतिमास दमे के भयंकर दौरे आते थे, और उन्हें पुरी जाने की सलाह दी गई। परन्तु अस्वस्थता और डाक्टरों की सलाह के बावजूद उन्होंने सन् १९३२ के संघर्ष में प्रमुख भाग लिया, और लम्बे अरसे तक जेल काटी।

यह समाजवादी आन्दोलन का जन्म था जिसने नरेन्द्रदेव जी को अन्त में विवादात्मक राजनीति के क्षेत्र में खींच लिया। जयप्रकाश जी अमरीका से सन् १९२९ में लौट आए थे। कुछ काल के पश्चात जयप्रकाश जी के प्रिय आचार्य भारत भ्रमण के लिए आए और उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का विशेष दौरा किया। उन्होंने बिहार विद्यापीठ को देखा जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे। आचार्य जी उस समय काशी विद्यापीठ के प्रिंसीपल थे। उनको बिहार विद्यापीठ के प्रिंसीपल ने लिखा कि वे उस लब्धप्रतिष्ठ अमरीकन प्रोफेसर का स्वागत करें। जयप्रकाश जी उनके साथ थे। इस प्रकार नरेन्द्रदेव जी और जयप्रकाश जी पहिलेपहल मिले और एक दूसरे की ओर आकर्षित हुए। जब जयप्रकाश जी ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के श्रम अनुसन्धान विभाग का कार्यभार सँभाला, तो वे दोनों अधिक सम्पर्क में आने लगे और क्रमशः घनिष्ठ हो गए। बाद में अन्य अनेक मित्रों के साथ मिलकर उन्होंने कांग्रेस-समाजवादी पार्टी की रचना की।

मई सन् १९३४ में, पटने में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। उसका उद्देश्य था सम्पूर्ण स्थिति पर फिर से दृष्टिपात करना और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को समाप्त करके वैधानिक कार्यक्रम अपनाना। उसको निरे विधानवाद की ओर बह जाने से रोकने और देश के सामने एक अधिक गतिशील कार्यक्रम रखने के लिए समाजवादी कांग्रेसियों की एक कांग्रेस भी वहीं बुलाई गई। आचार्य नरेन्द्रदेव को उसके सभापतित्व के लिए आमान्त्रित किया। उनके पाण्डित्यपूर्ण अभिभाषण का अच्छा प्रभाव पड़ा। एक अखिल भारतीय कांग्रेस समाज वादी समुदाय की रचना हुई और जयप्रकाश जी उसके संगठन मन्त्री बनाए गए। उस समय से लेकर नरेन्द्रदेव जी भारत के समाजवादी आन्दोलन के पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र रहे हैं।

सन् १९३६ में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू दूसरी बार कांग्रेस के प्रधान चुने गए, तो उन्होंने अपनी कार्यसमिति में नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश और अच्युत पटवर्धन को सम्मिलित किया। अगले वर्ष आचार्य जी संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान चुने गये। उन्होंने संयुक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार द्वारा नियुक्त माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठन समिति की भी प्रधानता की, जिसकी रिपोर्ट सब ओर प्रशंसित हुई।

पिछले अनेक वर्षों से आचार्यजी भारतीय किसानों की समस्याओं में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे। अब उन्होंने उन्हें संगठित करने का बीड़ा उठाया। संयुक्तप्रान्त के एक प्रमुख किसान नेता और केन्द्रीय किसान संघ के जनरल सेक्रेटरी श्री० मोहनलाल गौतम, एक अन्य विख्यात क्रांतिकारी नेता सेठ दामोदरस्वरूप, तथा संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के वर्तमान प्रधान और जनरल सेक्रेटरी पंडित अलगूराय शास्त्री भी कांग्रेस समाजवादी पार्टी में सम्मिलित होगये। जनवरी सन् १९३६ में, मेरठ में समाजवादियों के द्वितीय वार्षिक

सम्मेलन के अवसर पर भारतभर के किसान कार्यकर्त्ताओं का भी एक सम्मेलन हुआ जिसके फलस्वरूप अखिल भारतीय किसान सभा की उत्पत्ति हुई। नरेन्द्रदेवजी दो बार इसके प्रधान चुने जा चुके हैं— एक बार सन् १६३६ के गया-अधिवेशन में, और दूसरी बार सन् १६४२ में बिहार के मुजफ्फरपुर परगने के बिदोल नामक स्थान में हुए अधिवेशन में।

उन्होंने "संघर्ष" नामक एक हिन्दी साप्ताहिक भी निकाला, जिसने अच्छी ख्याति प्राप्त की। उसके सम्पादक मण्डल में स्वयं के अतिरिक्त सर्वश्री मोहनलाल गौतम, रमाकान्त श्रीवास्तव, और प्रोफेसर बी० पी० सिनहा थे।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी के निर्माण के साथ ही, नरेन्द्रदेवजी प्रान्तीय राजनीति की परिधि में से निकलकर अखिल भारतीय क्षेत्र में आगये। उन्हें अप्रयास और विना मांगे ही, मान और प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुए हैं। अनेक बार तो उन्होंने उनकी ओर से धीरे से मुँह मोड़ लिया है। लखनऊ विश्वविद्यालय का कुलपति पद, अपने प्रान्त में मंत्रि-पद, और कई बार कांग्रेस कार्य समिति में स्थान ग्रहण करना उन्होंने अस्वीकार किया है।

नरेन्द्रदेवजी भारतीय इतिहास के विख्यात धुरंधरों में से एक हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि उनके अपने नगर में ऐतिहासिक स्मृतियों और आधुनिकता का अद्भुत सम्मिलन है। नरेन्द्रदेवजी सन् १८८६ में सीतापुर में पैदा हुए और जब वे केवल दो वर्ष के थे, तब से उनका परिवार फैजाबाद जाकर रहने लगा। वहां से अयोध्या की प्राचीन नगरी जो राम की जन्मभूमि है और जिसके साथ रामायण की हृदयस्पर्शी घटनायें सम्बद्ध हैं केवल तीन मील दूर है। फैजाबाद स्वयं भी एक समृद्ध नगर और अवध की राजधानी था जब अङ्गरेजों ने उसपर अधिकार किया।

लार्ड सभा में वारन हेस्टिंग्ज पर जो अभियोग चलाया गया था, उसने अवध की बेगमों को लूटना उसके ऊपर लगाये गये प्रमुख आरोपों में से एक था और हम अब भी उसके विषय में बर्क, फाक्स और शेरीडन के ओजपूर्ण भाषणों और मेकाले के लेख में से पढ़ सकते हैं। एक अन्य अवध की बेगम सन् १८५७ के गदर के सबसे अधिक दृढ़प्रतिज्ञ नेताओं में से थी, और उसने सन् १८५८ के महारानी विक्टोरिया के ऐलान का जो ललकारपूर्ण उत्तर दिया था, उसका हमारे क्रान्तिकारी साहित्य में ऊँचा स्थान है। अवध के एक दूरदर्शी शासक ने एक भव्य मकबरा बनवाया था, जिसमें उसके वंश के अनेक नवाबों और बेगमों को अन्तिम शान्ति मिली है। वह अवध में गुल-बाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। जिस सड़क पर वह अवस्थित है, वह आजकल आचार्य नरेन्द्रदेव रोड कहलाती है।

यद्यपि आचार्यजी वामपक्ष के नेता हैं, परन्तु सभी, यहां तक कि उनके राजनीतिक विरोधी भी उनका आदर करते हैं। इसका कारण उनकी दयालु प्रकृति और परपक्ष के प्रति न्याय करने की भावना है। वे पार्टी के भेदभावों को वैयक्तिक सम्बन्धों के बीच में नहीं आने देते। उनके अति खण्डनात्मक कथनों में भी कटुता का लेश नहीं होता। जब वे आपसे मतभेद करेंगे, तो इतनी नम्रता और शिष्टता से करेंगे कि आपको उनकी बात बिलकुल लगेगी नहीं।

आचार्यजी भारत के महान् वक्ताओं में से एक हैं। ऐसे कुछेक व्यक्तियों के नाम सोचना भी कठिन है जिनमें उनकी सी प्रगाढ़ विद्वत्ता और प्रौढ़ व्याख्यान शक्ति का समन्वय हो। परन्तु वे इतने सङ्कोचशील हैं कि सन् १९२४ तक वे कांग्रेस में एक बार भी नहीं बोले, यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य वे १९१७

से थे। १९३४ में भी, अपने समाजवादी मित्रों के भारी आग्रह से प्रेरित होकर ही वे मंच पर आये।

वे अनेक भाषाओं के पण्डित हैं। प्रसिद्ध प्रोफेसर वेनिस ने, जिनके वे प्रिय शिष्य थे, एक बार उनसे मेयो कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर बन जाने का अनुरोध किया था। काशी विद्यापीठ में भारतीय इतिहास जैसे अन्य विषयों के व पाली और प्राकृत भी पढ़ाते थे। उन्होंने बौद्ध दर्शन ग्रन्थों का फ्रेंच और जर्मन से अनुवाद किया है। और उर्दू और हिंदी पर तो उनका असाधारण अधिकार है।

उनकी प्रकृति में हास्य और व्यंग का भी मधुर पुट है। एक अवसर पर अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में यह विवाद चल रहा था कि काँग्रेस कार्यसमिति के एक प्रस्ताव पर संशोधन प्रस्तुत किया जाय अथवा नहीं। बहुमत कार्यसमिति के प्रस्ताव का समर्थन करने के पक्ष में था। परन्तु एक प्रमुख सदस्य इस बात पर अड़े हुए थे कि अपने वाम-पक्षी रूप को चरितार्थ करने के लिए समाजवादी पार्टी को संशोधन उपस्थित करना चाहिये। इस पर नरेन्द्रदेव जी बीच में बोल पड़े, "हाँ मैं अपने मित्र से पूर्णतः सहमत हूँ। पार्टी की रचना विशेषतः कार्यसमिति के प्रस्तावों पर संशोधन प्रस्तुत करने के लिए ही हुई थी। यदि हम एक बार भी संशोधन उपस्थित करने में असमर्थ रहते हैं, तो हमारे लिए फिर कोई जगह नहीं।" उनके गम्भीर वाणी में कहे गये इन शब्दों के पश्चात् इतने जोर का ठहाका लगा कि वातावरण का तनाव मिट गया, और संशोधन-पक्षी महाशय और कुछ न बोल सके।

उनके अवगुणों के विषय में क्या कहा जाय? उनके अपने प्रांत में तो कुछेक गुण समझे जाने लगे हैं। उनका पहिला अवगुण यह है

कि वे किसी से "न" नहीं कह सकते, और लोग इसका खूब अनुचित लाभ उठाते हैं। उनका दूसरा दोष उनकी अतिशय विनय-शीलता है। यों तो सयुक्तप्रांत, परम्परा से, भद्रता और शिष्टता का घर रहा है, और वहाँ के किसी सज्जन को कोई अप्रिय बात कहने में उतने ही मिनट लगते है जितने किसी बम्बई निवासी को सेकिंड। परन्तु वहाँ के लिए भी आचार्य जी की सरलता और सौजन्यता अत्यधिक नहीं तो असाधारण अवश्य है।

यद्यपि आचार्य जी सदैव अत्यधिक व्यस्त रहते हैं, परंतु फिर भी वे उन व्यक्तियों में से है जिनके पास आसानी से पहुँच हो सकती है। फैजाबाद, बनारस अथवा लखनऊ में उनके घर पर, सब समय, आगतुकों की भीड़ लगी रहती है। उनमें ऐसे भी अनेक व्यक्ति देखने को मिलते हैं जो बिना किसी विशेष कारण के उनके पास घटों बैठे रहते हैं। आचार्य जी उनसे क्षमा नहीं माँग सकते चाहे कितना ही आवश्यक काम क्यों न पड़ा हो। परिणाम यह होता है कि चलते पुरजे अड़ियल आदमी अपना काम करा ले जाते हैं और बहुधा महत्वपूर्ण कार्य अधूरा पड़ा रह जाता है। फिर उस अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए वे रात में देर तक परिश्रम करते हैं और इससे उनके स्वास्थ्य को भारी हानि पहुँचती है। यह होता है मित्रों और आगंतुकों के प्रति उनकी ढिलाई का फल। परंतु जब वे बनारस में अपने मित्र बाबू श्रीप्रकाश के यहाँ ठहरते हैं, तो उनकी सब व्यवस्था ठीक रहती है। मिलने जुलने वाले और दर्शक गण वहाँ भी उन्हें घेरे रहते हैं, परतु न जाने कैसे उनका सब प्रबंध, जिसमें समय पर सोना भी सम्मिलित है, मानो जादू के द्वारा ठीक २ होता रहता है। आचार्य जी ने अपना जीवन-बीमा कराया है या नहीं, यह तो अज्ञात है, परंतु यदि कराया हो, तो उनकी बीमा कम्पनी के लिए यह एक ज्ञातव्य भेद है।

उनका दुर्बल स्वास्थ्य उनकी अपनी सबसे बड़ी परेशानी और देश का दुर्भाग्य रहा है। लम्बे समय तक वे एक दम अकर्मक हो जाते हैं। जिन्होंने उन्हें दमे के कठिन आघातों की असह्य पीड़ा सहते हुये देखा है, उन्होंने उनके धैर्य और प्रसन्नमुखता पर आश्चर्य प्रकट किया है। जून सन् १९४५ में अहमदनगर गढ़ की हिरासत से छूटने के पश्चात् से तो वे बिल्कुल असमर्थ से हो गये है। उनके क्षीण स्वास्थ्य को देख कर अधिक अचम्भा इसलिए होता है क्योंकि उनके माता पिता पूर्ण स्वस्थ्य थे। उनके पिता ने ७२ और उनकी माता ने ८७ वर्ष की दीर्घायु लाभ की थी।

उनके मोहक व्यवहार, उनकी सौम्य और प्रगाढ़ विद्वता, और उनके आचार-विचार ने उन्हें कोटि २ जनता का प्रियभाजन बना दिया है। उनका जीवन एक ऐसे व्यक्ति का जीवन है जो एक आदर्श और एक विश्वास के लिए जीता है। वह आदर्श है एक वर्ग-विहीन समाज का जिसमें दारिद्य, अज्ञान और शोषण का नाम न हो, और वह विश्द्रास है उस नवीन संसार का निर्माण करने वाले साधारण मनुष्य और उसकी क्रांतिकारी क्षमता में। उनका जीवन उद्देश्यों की पवित्रता और आत्मा की विमल ज्योति से ऐसा परिपूर्ण है कि उनके संसर्ग में आने वाले व्यक्ति ही उससे उन्नत नहीं बनते, बल्कि सामाजिक जीवन भी उसके आलोक से उद्भासित रहता है।

---

# विषय-सूची

# समाजवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन

(१९३४)

# समाजवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन (१९३४)

बन्धुओ,

समाजवादी कान्फ्रेंस के इस प्रथम अधिवेशन के सभापतित्व के लिए आमन्त्रित करके आपने जो सम्मान मुझे दिया है, उसका मैं हृदय से आभारी हूं। परन्तु यह पद इतना भारी और उत्तरदायित्वपूर्ण है, कि मैं कह नहीं सकता कि इस पर मुझे बिठाने के लिए आपको धन्यवाद दूँ या क्या? अच्छा तो यह होता कि यह भार किसी अधिक योग्य व्यक्ति पर डाला जाता, परन्तु नियति की कुटिलता से मुझे ही इसे वहन करना पड़ रहा है। कठिनाई तो यह है कि आज हमारे परम सुहृद् पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी यहाँ उपस्थित नहीं हैं, जिनका सत्परामर्श और पथ-प्रदर्शन इस अवसर पर हमारे लिए अमूल्य होता।

काश, मैं अपने को इस समस्त सम्मान के योग्य अनुभव कर सकता। फिर भी मुझे आशा है कि आपके सहयोग और सौहार्द से मैं इसके अनुरूप आचरण करने में सफल हो सकूँगा और हम अपनी समस्त कार्यवाही अवसर के अनुकूल गम्भीरता से सम्पादित करके अपने निर्णयों से देश की स्वातन्त्र्य प्रगति में सहायक हो सकेंगे।

हम ऐसे समय पर एकत्रित हुए हैं जब कि हमारी राष्ट्रीय संस्था एक संकट-काल में से गुजर रही है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक कल बड़े ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिए हो रही है, और हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम इस सम्मेलन में यह निश्चय करें कि उस महती सभा के महान् निर्णयों में हमारा क्या भाग होगा।

राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवाद की ओर ले जाने के हमारे प्रयत्नों पर यह टिप्पणी की जाती है कि समाजवाद का राष्ट्रीयता में समन्वय करना कठिन है और यदि हम अपने देश में समाजवाद लाना चाहते हैं, तो हम क्यों न अपने को कांग्रेस से पृथक् एक स्वतन्त्र समुदाय के रूप में संगठित करें, और इस प्रकार एक मध्यवर्गीय संस्था के प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से मुक्त रहकर कार्य करें ?

इसका उत्तर यह है कि हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उस महान् राष्ट्रीय आन्दोलन की धारा से पृथक् रहना नहीं चाहते जिसका मूर्तिमान् स्वरूप आज कांग्रेस है । हम यह मानते हैं कि आज की कांग्रेस में बुराइयाँ और कमियाँ हैं, परन्तु वह सरलता से देश की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी शक्ति बन सकती है । हमें यह न भूलना चाहिये कि भारतीय जन-संघर्ष अभी मध्यवर्गीय क्रान्ति की अवस्था में ही है, अतः जिस राष्ट्रीय जागृति का प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती है, उससे अपने को पृथक् कर लेना हमारे लिए घातक ही सिद्ध होगा । सच्चे मार्क्सवादी की एक बड़ी विशेषता यह होती है कि उसका दृष्टिकोण रूढ़ियों की संकीर्णता में जकड़ा हुआ नहीं होता । मार्क्सवाद का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त एक जीवित और लचकदार सिद्धान्त है, और उसके अनुयायी को परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील होना पड़ता है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अवसरवादी होता है, अथवा अपने सिद्धान्तों का सौदा करने को तैयार रहता है । वरन् सचाई यह है कि वह अपने अन्तिम ध्येय को कभी आंखों से ओझल नहीं होने देता, प्रत्येक अवस्था की ऊँच-नीच से अवगत रहता है और केवल सैद्धान्तिक कट्टरता के कारण वह किसी भी ऐसे लाभ को तिलाञ्जलि नहीं देता जो समाजवाद के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति में साधक हो । वह कभी भी निम्न मध्यवर्ग के साथ आजादी की लड़ाई में कन्धा भिड़ाकर लड़ने से इन्कार नहीं करेगा, यदि उस लड़ाई से विदेशी सत्ता

का उन्मूलन किया जा सके। हाँ, यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों, तो वह अवश्य एक समाजवादी राष्ट्र की नींव डालने का प्रयत्न करेगा। परन्तु यदि इसके लिए अवसर न हो, तो वह केवल इसीलिए अन्य वर्गों का विदेशी सत्ता के विरुद्ध साथ देने से इन्कार करके स्वातन्त्र्य प्रगति में रोड़ा न बनेगा। उसका आचरण वस्तुतः अपने सिद्धान्तों के अनुकूल ही होगा, क्योंकि एक पराधीन जाति के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता समाजवाद तक पहुंचने की एक आवश्यक सीढी है। हम यह सोच सकते हैं कि वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में, यह सम्भव है कि दोनों क्रान्तियाँ साथ-साथ हो सकें। परन्तु इन मामलों में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत कुछ तो स्वातन्त्र्य संघर्ष के नेतृत्व की विशेषताओं पर निर्भर करेगा। यदि नेतृत्व समाजवादी रंग का हुआ और यदि उसमें साहस और विवेक की प्रचुर मात्रा हुई तो वह अवश्य अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठा लेगा। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता मिलने के साथ ही हमारे देश में समाजवाद स्थापित हो जायगा अथवा नहीं। कुछ भी हो, पूँजीवादी जनतन्त्र सब प्रकार से विदेशी शासन की दासता से तो अच्छा ही है। इसलिए जो समाजवादी आज़ादी की लड़ाई को मुख्यतः निम्नमध्यवर्ग के व्यक्तियों की बताकर उससे विमुख रहता है, वह निश्चय ही संकीर्ण दृष्टिवाला है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में समाजवादी कांग्रेस के भीतर रहकर अच्छा कार्य कर सकते हैं, और स्वतन्त्रता के संघर्ष का समाजवाद से योग कर सकते हैं।

## वर्ग-युद्ध के विषय में

हमारे ऊपर यह आरोप लगाया जायगा कि वर्ग-कलह के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके हम वर्ग-वैमनस्य को जन्म देंगे। यह भी कहा जायगा कि

भारतवासी पहले ही विशृंखल और निर्बल हैं, अतः यह और भी आवश्यक है कि हम सब वर्गों और समुदायों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करें और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए शत्रु से संगठित मोर्चा लें। कुछ व्यक्ति यह भी कहेंगे कि इस संकट के समय में समाजवाद का प्रचार करके हम कतिपय वर्गों की सहानुभूति खो देंगे। कुछ हमें यह सलाह देंगे कि हम समाजवाद फैलाने के कार्य को अनिश्चित भविष्य के लिए स्थगित करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति स्वतन्त्रता प्राप्त करने में लगा दें। हम अपने इन मित्रों की सद्भावनाओं पर कोई सन्देह नहीं करते जो इस प्रकार के परामर्श हमें देते हैं, और जो समाज में शान्ति बनाये रखने के अत्यधिक इच्छुक प्रतीत होते हैं। परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि पीड़ितों मे वर्ग-भावना भरने के प्रयत्नों पर इनको आपत्ति क्यों है? सम्भवतः ये लोग भूल जाते हैं कि उच्चश्रेणी वालों को, जिनके पास देश की सम्पूर्ण अर्थ-शक्ति है और जिनके पक्ष में वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, वर्ग-भावना की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उससे रहित होकर ही वे अपने हितों की रक्षा में सम्पूर्ण समाज के हितों को सुरक्षित अनुभव कर सकते हैं। यह सब के हित में आचरण करने का विश्वास उन्हें सन्तोष और शक्ति प्रदान करता है। परन्तु वास्तव मे वे आचरण करते हैं अपने वर्ग के ही हितों में, और इसका परिचय तब मिलता है जब उनके किन्हीं विशेषाधिकारों पर आघात होता है। उस समय वे सब सम्मिलित होकर उनका प्रतिरोध करते हैं। परन्तु जो शोषित वर्ग हैं वे उनकी तरह परार्थ-भावना का खिलवाड़ नहीं कर सकते; उनमें तो वर्ग-चेतना होनी चाहिये, क्योंकि उसके बिना वे कोई ऐसा शक्तिशाली संगठन नहीं बना सकते, जिससे उन्हें शक्ति और सत्ता प्राप्त हो सके।

जहाँ तक एकता का प्रश्न है, मैं कहता हूँ कि एकता तभी मूल्यवान् है जब वह शक्ति का साधन बने, और यह तभी सम्भव है जब कि एक होने

वाले दो दलों मे आदर्शों और कार्य-पद्धति की समानता हो। इसके विपरीत दशा मे एकता से दोनों को शक्तिहीनता और अधःपतन ही प्राप्त होंगे। यथार्थ में, देश के विभिन्न वर्गों में भिन्नता की भावना उत्तरोत्तर तीव्र गति से जड़ पकड़ती जा रही है, और उच्च तथा मध्यवर्ग के अधिकाधिक टुकड़े राष्ट्रीय आन्दोलन से टूटकर अलग होते जा रहे हैं। विशाल जनसमुदाय में से काटकर अनेक नये वर्गों का निर्माण हो रहा है। गवर्नमेण्ट अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों, जैसे—राजाओं, बड़े जमींदारों और सम्प्रदायवादियों को बढ़ावा देकर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयत्न कर रही है। यह भारत में ब्रिटिश सत्ता की प्रारम्भ से ही आधारभूत नीति रही है। भारतीय पूँजीपतियों को अपने साम्राज्यवाद के छोटे साझेदार बनाकर वह उन्हें भी अपने साथ मिला रही है। ऐसी स्थिति में एकता का नारा करना क्या अर्थहीन नहीं?

हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम एकता का गाना छोड़ें क्योंकि उसके लिए कोई आधार नहीं है। हमे तो राष्ट्रीय आन्दोलन को, जो अभी तक, मुख्यतः मध्यवर्गीय आन्दोलन रहा है, अधिक तीव्र बनाना चाहिये। ऐसा मेरे विचार मे तभी हो सकता है जब हम जनसमुदाय को आर्थिक वर्ग-चेतना के आधार पर संगठित करके आन्दोलन के आधार को अधिक विस्तृत बनायें।

किसी वर्ग में चेतना या जागृति उत्पन्न करने के दो ही साधन हैं—प्रचार और संगठन। कृषक लोग अपने आपको संगठित करने, अपने हितों को पहचानने की अक्षमता के लिए विश्व भर मे बदनाम हैं। यदि उन्हें अपने भरोसे छोड़ दिया जाय, तो वे असह्य परिस्थितियों के विरुद्ध अपने असन्तोष को सहज विद्रोह के द्वारा ही व्यक्त कर सकते हैं। आयरलैण्ड में ऐसा हुआ, रूस में ऐसा हुआ, और भारत भी इसका कोई अपवाद नहीं है।

भारत में ब्रिटिश शासन का इतिहास इस प्रकार के विप्लवों से भरा पड़ा है। जब-जब गवर्नमेण्ट ने देश की भूमि-व्यवस्था में कोई कठोर परिवर्तन किये, अथवा जब-जब गाँवों की जनता पर कोई मर्माघात हुआ, तब-तब कृषकों ने विद्रोह किया। प्रचार और संगठन का कार्य तो कृषकों में तभी होता है जब निःस्वार्थ और उच्चाशय व्यक्ति उनके हितों को अपना लें, अथवा जब राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्ति प्राप्त करने के लिए उनकी ओर मुड़ना पड़े। अन्धविश्वासों में डूबे हुए और क्रूरता से कुचले हुए ये भोले लोग अत्याचार से त्राण पाने का एक ही मार्ग जानते हैं---आँख मूँदकर उपद्रव में कूद पड़ना; और तब गवर्नमेण्ट उन्हें सहज ही दबा देती है। केवल क्रान्तिकारी विचारवाले उनके हितैषी ही उन्हें अनुशासनबद्ध कार्यवाही के लिए संगठित कर सकते हैं।

## जनसमुदाय महत्त्वपूर्ण है

भविष्य में केवल एक ही वर्ग होगा---जनता। रूस के सामाजिक प्रयोग से शनैः-शनैः जनता विश्व के रंगमंच पर प्रधान पात्र के रूप में अवतरित हो रही है। भारत का जनतन्त्रीय आन्दोलन भी इस बात की अपेक्षा करता है कि निम्नमध्यमवर्ग और जनसाधारण मिलकर एक हो जायँ। राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक आधार को अधिक व्यापक बनाने के लिए हमें जनसाधारण के हित में अपनी आर्थिक नीति निर्धारित करनी पड़ रही है। समाजवाद आ रहा है, उससे हम बच नहीं सकते। आने वाले दिनों में कांग्रेस उग्रपरिवर्तनवादी आर्थिक कार्यक्रमों पर अधिकाधिक विचार करेगी और उदार राजनीतिज्ञ और सरकार एक योजनात्मक अर्थ-व्यवस्था बनाने और जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के साधनों की बातें करेंगे।

आज कांग्रेस समाजवादी कार्यक्रम को काट-छाँटकर भले ही अपनाये,

सम्पूर्ण राष्ट्र का बहाव तो उधर ही होगा, क्योंकि स्वातन्त्र्य संग्राम को चलाने का अधिकाधिक दायित्व जनता के ऊपर आ रहा है। अब तक कांग्रेसवाले जनता के पास जनतन्त्र और राजनीतिक स्वतन्त्रता का संदेश लेकर जाते है, परन्तु इन बड़े-बड़े शब्दों से जनता की तन्द्रा नहीं टूट पाई, और इसलिये कोई सन्तोषजनक फल नहीं मिला। यथार्थ मे, ये अमूर्त विचार जनसाधारण के लिए कोई अर्थ नहीं रखते। उनको तो स्वतन्त्रता-संग्राम मे तभी लाया जा सकता है जब उनके सामने ठोस आर्थिक बातें रक्खी जायँ। जब कभी जनता उठकर खड़ी हुई है, उसका नारा किसी आर्थिक संकट का निवारण ही रहा है, स्वतन्त्रता और समानता का नहीं।

## श्रमिकों का महत्त्व

भारत मे श्रमिक-आन्दोलन अपने ट्रेड-यूनियन रूप से आगे बढ़ चुका है। श्रमिक वर्ग मे शनैः-शनैः राजनैतिक चेतना का विकास हो रहा है। कुछ प्रान्तों मे श्रमिकों की पार्टियाँ बन चुकी हैं और एक अखिल भारतीय श्रमिक पार्टी बनाने का कदम भी उठाया जा चुका है। भारतीय मजदूर पूँजीवाद को पछाड़ने के लिए संगठित हो रहा है और उसने सब प्रकार के साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध डटकर संघर्ष करने का फ़ैसला किया है। अखिल भारतीय श्रमिक पार्टी ने अपने सामने पहला उद्देश्य श्रमिक-वर्ग के दृष्टिकोण मे पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का रक्खा है। यह श्रमिक-वर्ग का राजनैतिक ध्येय है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह राष्ट्रीय आन्दोलन के हरावल मे रहना चाहता है और उसका नेतृत्व करना चाहता है। साम्राज्यवाद और उसके भारतीय पोषकों के विरुद्ध उसका दावा है कि वह कृषकवर्ग को भी अपने साथ लिए हुए है, और उसकी माँगों में कृषकों की माँगें भी शामिल है।

मैं मानता हूँ कि भारत मे श्रमिक आन्दोलन को अभी बहुत लम्बा

रास्ता तय करना है। अभी तो उसमें आन्तरिक झगड़े ही बहुत हैं। अवसरवादी नेताओं ने श्रमिकों को बहकाया है और उनकी पंक्तियों में फूट डाल दी है। उनके पास अच्छे क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव है, और उनका संगठन अपूर्ण है। यही कारण है कि श्रमिक-वर्ग की हड़तालें प्रायः असफल रही हैं। परन्तु संगठन को दृढ़ बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बुनकरों की माँगों की पूर्ति कराने के लिए उनकी आम हड़ताल की घोषणा की गई है। यदि संगठन के प्रयत्न सफल हुए और यदि ठीक प्रकार का नेतृत्व मिला, तो शीघ्र ही श्रमिकों का आन्दोलन एक बहुत ही शक्तिशाली आन्दोलन बन जायगा।

## कांग्रेस का कर्त्तव्य

कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। उसको जनता का विश्वास और प्रेम प्राप्त है और उसके पीछे जन-सेवा का एक लम्बा इतिहास और कीर्ति है। निश्चय ही, हमारी यह साख बहुत है, परन्तु यदि हम केवल वैधानिक सुधारवादी बन गये अथवा यदि हमने अपनी जड़ता से आये हुए अवसरों को खो दिया, तो हम इस साख के अयोग्य ही सिद्ध होंगे। नई परिस्थितियाँ नया कार्य भार लिए हुए आती हैं। हमारा राष्ट्रीय संघर्ष अधिकाधिक दलितों और पीड़ितों का संघर्ष बनता जा रहा है, और इस तथ्य को मानकर ही हम भविष्य के लिए ठीक नीतियाँ निर्धारित कर सकेंगे। जिस प्रकार श्रमिक-वर्ग का आर्थिक आन्दोलन स्वतः ही राजनैतिक बनता जा रहा है, उसी प्रकार कांग्रेस का राजनैतिक संघर्ष अन जाने ही जनता का आर्थिक संघर्ष होता जा रहा है। श्रमिकों का आर्थिक आन्दोलन राजनैतिक इसलिए बन जाता है क्योंकि वे देखते हैं कि साम्राज्य-वादी सरकार पूँजीपतियों का साथ देती है। इसी प्रकार राजनैतिक संघर्ष के नेताओं को अधिकाधिक अनुभव होता जा रहा है कि उच्चश्रेणी के

लोग, राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्यवाद से गठबन्धन कर रहे हैं और इसलिए उनको परिस्थिति मे विवश होकर श्रमिकों और कृषकों की सहानुभूति प्राप्त करने का उपक्रम करना पड़ रहा है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि हम अपने दृष्टिकोण और नीति में उपयुक्त परिवर्तन करें।

## आवश्यक शक्तियों का संघटन

श्रमिकों के आन्दोलन को कांग्रेस के आन्दोलन से जोड़कर कृषकों और निम्नमध्य-वर्ग के आन्दोलन के साथ समन्वित करना चाहिये। जब वे सब मिलकर एक महान् प्रयास करेंगे, तभी विजय होगी। देश की राजनैतिक स्वाधीनता के लिए जितनी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं उन सबका संघटन करना आवश्यक है, और यह तभी सम्भव है जब उन सबके एक से आदर्श हों।

कांग्रेस के आन्दोलन ने श्रमिकों को बहुत कम स्पर्श किया है। हमने प्रायः उन्हें अपने से दूर रक्खा है, और भारतीय पूंजीपतियों के विरुद्ध उनके संघर्ष मे कोई दिलचस्पी नहीं ली है। यही कारण है कि बम्बई के बुनकरों की विशाल हड़ताल जो आज की सबसे अधिक उल्लेखनीय घटनाओं मे से एक है, एक औसत दर्जे के कांग्रेसी की कल्पनाशक्ति को नहीं स्पर्श करती और न वह उसमें कोई क्रियात्मक सहानुभूति जाग्रत करती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसका उससे कोई सम्बन्ध नहीं। केवल सामाजिक न्याय के आधार पर ही वे श्रमिक कांग्रेस की सहायता और सहानुभूति के पात्र हैं। प्रतिदिन बड़ी संख्या में वे बेकारी के शिकार होते जा रहे हैं, उनकी मजदूरी घटाई जा रही है, और उनका जीवन-स्तर निम्न होता जा रहा है। कम से कम हड़ताल के दिनों में उनके निर्वाह के लिए हम धन-संग्रह तो कर सकते थे। परन्तु नहीं, हम इन बातों को सोचते

भी नहीं, क्योंकि न जाने कैसे हमारी यह धारणा बन गई है कि इन कारखानों के झगड़ों में हमे नहीं पड़ना चाहिये। परन्तु क्या यह श्रमिक-वर्ग का विश्वास प्राप्त करने का मार्ग है? फिर यदि श्रमिक-संघर्षों का हमारे आन्दोलन से कोई सावयव (organic) सम्बन्ध न हो, तो इसमें आश्चर्य क्या है? वे अपने अलग रास्ते पर चलते है, यद्यपि यह अवश्य है कि उनका कोई भी विशाल आन्दोलन आने वाले देशव्यापी राजनैतिक आन्दोलन का सूचक होता है। कांग्रेस ने अब तक जितने भी राजनैतिक संघर्ष किये हैं, उनके पृष्ठभाग मे हड़तालें, और औद्योगिक असन्तोष की अन्य हलचलें रही है। जब उन दोनों आन्दोलनों का संयोग हुआ है, तभी राष्ट्रीय संघर्ष अपनी चरमावस्था को पहुंचा है। यदि उन दोनों शक्तियों को व्यक्त रूप में एक दूसरी से जोड़ दिया जाय, तो संघर्ष अधिक लम्बा, तीव्र, और प्रभावोत्पादक बन सकेगा। देश की वस्तुस्थिति क्रान्ति के उपयुक्त बनी हुई है, और यदि हम शक्तियों का संगठन कर पाते तो जो नैराश्य आज हममे दिखाई देता है, वह न होता।

ऐसी नीति से हमें एक लाभ और होता। भारत का मजदूर ग्रामों से आता है और नगर मे रहते हुए भी उसके हृदय में अपना ग्राम ही बसता रहता है। ऐसी दशा मे वह गाँवों मे क्रान्ति का अग्रदूत बन सकता है। रूस के कृषक-आन्दोलन का इतिहास बताता है कि वह आन्दोलन विशेषकर उन्हा स्थानों मे अधिक तीव्र था जहाँ के नेता पहले नगरों मे मजदूर रह कर वहाँ के प्रचार से प्रभावित हो चुके थे। जो नई विचारधारा देश में लहरा रही है, काँग्रेस को उसके साथ चलना चाहिये। केवल इसी तरह से हम विश्व की उन धाराओं से अपने को जोड़ सकेंगे जो पुरातन में से नवीन समाज की रचना करने में लगी हुई हैं।

वर्तमान विश्व-स्थिति का हमारे आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है—विशेषकर समाजवादी आन्दोलन से। इसलिये अपने आन्दोलन के

स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसका संक्षेप में सिंहावलोकन करना अप्रासंगिक न होगा।

## औद्योगिक सभ्यता की संभावनाएँ

हम एक ऐसी दुनिया में रहते है जिसका आर्थिक ढाँचा हमारे देखते देखते गिरा जा रहा है। संसार में आर्थिक संकट उत्तरोत्तर विषम होता जा रहा है, और उससे छुटकारा पाने का कोई भी मार्ग नहीं दिखाई देता। रूढ़िपन्थी अर्थशास्त्रियों और पूँजीपतियों ने, पूँजीवादी ढाँचे को बनाये रखकर इस संकट पर विजय पाने के अनेक सुझाव रक्खे हैं। प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट के राज्य—पूँजीवाद—का हर्ष से स्वागत किया गया है और उन्हें पूँजीवाद की रक्षा करने वाला देवदूत समझा जा रहा है। संकट को पार करने के लिए जानबूझकर उद्योगों की प्रगति को रोकने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। उत्पादन कम किया जा रहा है, और वस्तुओं की क़ीमत कृत्रिम ढंगों से बढ़ाई जा रही है। कौन नहीं जानता कि अमेरिका मे मक्का को ईंधन की तरह काम में लाया गया है, और रुई पैदा करने वालों को हर्जाना देकर १ करोड़ एकड़ की फ़सल नष्ट कराई गई है? कौन नहीं जानता कि कीमतों और लाभ को ऊँचा बनाये रखने के लिए ब्राजील मे कहवा के २० लाख बोरे समुद्र में फेंक दिये गये? जर्मनी मे लाखों मन rye ( एक अन्न ) को शूकरों के खाद्य की तरह काम में लाया गया है और अन्य फ़सलों को कम करने के अनेक उपाय किये जा रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह संकट देखने मे ही अत्यधिक उत्पादन-जन्य है; वास्तव में यह वस्तुओं की निकृष्ट विभाजनप्रणाली के कारण है। सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि समाज की उत्पादन शक्ति तो अत्यधिक बढ़ गई है, परन्तु लोगों की क्रय-शक्ति प्रायः लुप्त हो चुकी है और लाखों ही मज़दूर और कृषक बरबाद हो चुके हैं। लाखों श्रमिक बेकार

हो गये है, और जिनके पास अब भी काम है, उनकी मजदूरी घट गई है अवश्यम्भावी और उनकी सुख-सुविधायें उनसे छीन ली गई है। यह अवश्यम्भावी परिणाम है इस आर्थिक ढाँचे का जिसका आधार शोषण है, और जिसका एकमात्र उद्देश्य है लाभ कमाना।

आर्थिक संकट के विषम होने के साथ-साथ राजनैतिक संकट भी विषम होता जा रहा है। पार्लियामेण्टरीय जनतन्त्र जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का ही राजनैतिक रूप है, ऐसे ही संकट मे फँसा हुआ है। प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ ढेर होती जा रही हैं, और उनकी इस संकट से पार ले जा सकने की योग्यता पर सन्देह किये जा रहे है। लोगो की आँखों के आगे से माया का परदा हटता जा रहा है, और जहाँ पहले विश्वास और मानसिक शान्ति थी वहाँ अब असन्तोष और अविश्वास है। जिन सामाजिक संस्थाओं को अब तक पावन माना जाता था, वे आलो-चनात्मक दृष्टि से देखी जा रही है, और शनै-शनैः उनका प्रभुत्व खोखला होता जा रहा है। कुछ राज्यों मे तो जनतन्त्र का दिखावा भी समाप्त करके फ़ासिज्म के रूप में नंगी निरंकुशता को अभिषिक्त किया गया है। अन्य राज्य ऊपर से जनतन्त्रात्मक रहते हुए भी व्यवहार में तानाशाही बर्त रहे हैं। पार्लियामेण्ट्री सरकारें डाँवाडोल हो गई हैं, और राजनैतिक दलबन्दियाँ बढ़ती जा रही हैं, जिससे उनका कार्य अधिकाधिक कठिन हो गया है। यहाँ तक कि पार्लियामेण्टों की जननी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भी वैधानिक संकट से नहीं बच पाई है और प्रजातन्त्री इङ्गलैण्ड मे भी एक फ़ासिस्ट पार्टी का जन्म हो गया है।

पतनोन्मुख पूँजीवादी समाज आज अपने भीतर से उत्पन्न होने वाली नवीन व्यवस्था के विरुद्ध जीवन-मृत्यु के संग्राम में संलग्न है। वह आने वाले अन्त से बचने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग कर रहा है और अनेक हथकंडे काम में ला रहा है। आगामी घोर संघर्ष की तैयारी में

वह जनतन्त्र को दूर फेंक कर खुली तानाशाही के सुदृढ़ दुर्ग में मोर्चाबन्दी करना चाहता है। इटली और जर्मनी में तो तानाशाही शासन स्थापित हो ही चुका है; देखना यह है कि अन्य देश भी इसी ओर चलेंगे अथवा नहीं।

प्रश्न यह है कि जब अब तक पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली समाज की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने और उसका हित करने में सहायक रही है, तब अभी उस पर ऐसा घोर और अन्तहीन संकट कैसे पड़ा? बात है कि अब पूँजीवाद के बढ़ने और फैलने का समय सहसा समाप्त हो गया है। अब पूँजीपतियों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे मजदूरों की माँगें पूरी करके, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर और उनके लिए सुविधाएँ जुटाकर जनतन्त्र के माया-जाल में उन्हें जकड़ सकें। आजकल तो उन्हें मजदूरी घटाकर उत्पादन का मूल्य कम करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। वे मजदूरों के विरुद्ध मोर्चा लगा रहे हैं। इसलिए वे उनके जीवन-स्तर पर ही चोट करके सन्तुष्ट नहीं होते, उनके अधिकारों पर भी आघात कर रहे हैं।

## पूँजीवादी संकट की व्याख्या

यह इस कारण है, क्योंकि पूँजीवाद अपने विकास की उस चरम सीमा पर पहुँच चुका है जहाँ वह प्राप्त सधनों के समुचित उपयोग में बाधक ही हो सकता है। पूँजीवाद का यह अन्तिम स्वरूप साम्राज्यवाद है जिसको लेनिन ने पूँजीवाद की एकाधिकार अवस्था कहा है। लेनिन के ही शब्दों में :—

"खुली प्रतिस्पर्द्धा पूँजीवाद और साधारणतः वस्तु-उत्पादन का मूल स्वभाव है। एकाधिकार खुली होड़ के बिल्कुल विपरीत है परन्तु हमने अपनी आँखों के सामने प्रतिस्पर्द्धा को एकाधिकार में परिणत होते देखा है।

छोटे उत्पादन-क्षेत्रों को कुचलकर बड़े बने; बड़ों को कुचलकर और भी बड़े; और अन्त में उत्पादन और पूँजी का ऐसा केन्द्रीकरण हो गया कि एकाधिकार की स्थापना हो गई। परिणाम में, बड़े-बड़े सिण्डीकेट और ट्रस्ट बने, और कतिपय बड़े-बड़े बैंकों में पूँजी एकत्रित हो गई। और साथ ही वह प्रतिस्पर्द्धा जिससे ये एकाधिकार उत्पन्न हुए, उनके साथ-साथ ही चलती रही और उसके कारण अनेक कटु और तीव्र झगड़े और वैमनस्यपूर्ण प्रतिद्वन्द्विताएं पैदा हुईं। यथार्थ में एकाधिकार पूँजीवाद से एक उच्चतर अवस्था की ओर ले जाने वाली सीढ़ी है।" "जब पूँजीवाद साम्राज्यवाद की अवस्था में आ जाता है तब एकाधिकार और बड़ी पूँजी का प्रभुत्व हो जाता है, पूँजी का बाहर भेजना विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है और पूँजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रिय एकाधिकारी गुट्ट बन जाते हैं जो संसार के टुकड़े कर देते हैं।"

इस अवस्था में पूँजीवाद में घुन लग जाता है, उत्पादन में अव्यवस्था आ जाती है, और पूँजीवाद को अपने बढ़ते हुए माल के लिए बाजार नहीं मिलता। कच्चे माल और विक्रय क्षेत्रों के लिए, और विदेशों में पूँजी लगाने के लिए एकाधिकारी गुट्टों में संघर्ष तीव्र हो जाता है। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय होड़ बढ़ जाती है और प्रत्येक गुट्ट अन्यों से सस्ते भावों पर बेचने के उद्देश्य से उत्पादन का मूल्य कम करना चाहता है। परन्तु उत्पादन की क़ीमत घटाने के लिए मज़दूरी घटानी पड़ती है, मज़दूरों का जीवन-स्तर घटाना पड़ता है, और उत्पादन के साधनों में विशेषज्ञों द्वारा किये हुए सुधारों के कारण लाखों मजदूरों को काम से हटाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार जनता की क्रय-शक्ति प्रायः शून्य हो जाती है और वस्तुओं की माँग इसीलिये बहुत कुछ घट जाती है। यही विषमता आज पूँजीवाद के सामने है। यह पूँजीवाद में प्रारम्भ से ही अन्तर्हित रहती है और जैसे-जैसे संकट बढ़ता है, यह भी बढ़ती जाती है। इससे एक ओर तो पूँजीपतियों और

मजदूरों में संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता चलती है, और दूसरी ओर साम्राज्य-वादी देशों में। आज युद्ध का खतरा बढ़ता दिखाई दे रहा है। विश्व-शान्ति के और निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयत्न विफल हो चुके हैं। लीग आफ़ नेशन्स का मान घटकर निम्नतम स्तर पर जा पहुँचा है और राज-नैतिक और आर्थिक प्रतिस्पर्द्धाओं का शान्तिपूर्ण हल निकालना अधिका-धिक असम्भव होता जा रहा है। शस्त्रसज्जा की होड़ लगी हुई है। राष्ट्रों में ईर्ष्या और विद्वेष बढ़ते जा रहे हैं और एक नये साम्राज्यवादी युद्ध के लिए भूमि तैयार हो रही है।

दूसरी ओर पूँजीपतियों और मजदूरों का संघर्ष अधिक तीव्र होता जा रहा है। कुछ देशों में श्रमिक संस्थाओं को निर्दयतापूर्वक दबा कर उनका राजनैतिक अस्तित्व समाप्त कर दिया गया है और कुछ देशों में मजदूरों पर गोलीकाण्ड और हत्याकाण्ड हुए हैं। स्वतन्त्र रूप से बोलने और सभा करने के अधिकारों पर सब जगह कुठाराघात हो रहा है और हड़ताल करने का अधिकार भी सीमित किया जा रहा है। ये तथ्य क्या बतलाते हैं? यही कि पूँजीवाद एक बन्द गली में घुस गया है और उसमें से निकलना नहीं जानता; और यह भी कि वह अपनी कठिनाई को कुछ टुकड़े फेंक कर अथवा तानाशाही से हल करना चाहता है। सम्भावना यह है, कि जैसे-जैसे संकट बढ़ता जायगा, वह अधिकाधिक फ़ासिज्म की ओर झुकता जायगा।

परन्तु पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच का द्वन्द्व अस्थायी रूप से भले ही दब जाय, वह फिर दूने वेग से भड़केगा, और उसका अन्त एक सफल मजदूर-क्रान्ति में हो सकता है।

## बचने का मार्ग

समाजवादी कहते हैं कि इस कठिनाई में से निकलने का केवल एक मार्ग है—उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण। उनका कथन है कि उत्पादन

का तो समाजीकरण हो चुका है, यद्यपि उत्पादन के साधन व्यक्तियों के हाथ में हैं। जब उत्पादन के साधन एक छोटे से वर्ग के हाथ मे निकल कर समाज के हाथ मे आ जायँगे, तभी पूँजीवाद के अन्तर की विषमता दूर हो सकेगी। मार्क्स ने कहा है कि जब पूँजीवाद उत्पादन शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है, तब वह अवस्था आती है, जब एक नई व्यवस्था का जन्म हो सकता है। परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि नवीन व्यवस्था अपने आप आ जायगी। उसने तो ऐसी अवस्था के आने पर नवीन व्यवस्था होने की सम्भावना बताई है। हाँ, उसकी समझ मे नवीन परिस्थितियों मे समाजवादी व्यवस्था सबसे अधिक उपयुक्त है, परन्तु वह तब तक स्थापित नहीं हो सकती, जब तक मनुष्य उसके लिए सजग रूप से प्रयत्न न करे।

दूसरा विकल्प फ़ासिज्म हो सकता है। वह भी विचारणीय है, क्योंकि समाजवाद और फ़ासिज्म दोनों ही इस कठिनाई का स्थायी हल देने का दावा करते हैं। ये दोनों विचारधाराएँ भविष्य मे एक-दूसरे से बाजी लेने का प्रयत्न करेंगी और इनके संघर्ष के फल पर मनुष्य-जाति का भाग्य निर्भर करेगा।

## फ़ासिज्म

फ़ासिज्म पर विचार करते हुए मै यथाशक्ति उन भ्रान्तियों से दूर रहने का प्रयत्न करूँगा जो उसके विरुद्ध पैदा की गई है। मै फ़ासिज्म को उस आतङ्क-राज्य से नहीं जाँचूँगा जो सत्ता प्राप्त करते ही फ़ासिस्टों ने स्थापित किया था। पार्लियामेण्टीय संस्थाओं का अन्त, अन्य राजनैतिक दलों और संगठनों का दमन, यहूदियों पर अत्याचार का नग्न ताण्डव—ये कुछेक लांछन हैं जो फ़ासिस्टों पर लगाये जाते हैं। परन्तु उन्होने जो व्यवस्था स्थापित की है उसका यथार्थ मूल्य आँकने के लिए हमें इन बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। उनका दावा है कि उन्होने पूँजीवाद और

साम्यवाद के बीच का मार्ग ढूँढ़ निकाला है। पूँजीवादी क्षेत्रों में उन्हें साम्यवाद की व्याधि से संसार को मुक्त करने वाले देवदूत कहा जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ़ासिस्ट देशों में आज साम्यवाद औंधे मुँह पड़ा है, परन्तु कौन कह सकता है कि यदि फ़ासिज़्म अपने वायदों को पूरा न कर सका, तो फिर साम्यवादी अपना सर न उठायेंगे।

समष्टि-राज्य ( Corporate State ) के फ़ासिस्ट सिद्धान्त की बहुत प्रसंसा की गई है। कुछ व्यक्तियों का दावा है कि "यह मानव मस्तिष्क का महानतम रचनात्मक चमत्कार" है। कुछ कहते है कि "समष्टि-राज्य व्यक्ति के हितों के क्षेत्र की सीमा निर्धारित करेगा। उस सीमा के भीतर व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्यकलाप को प्रोत्साहन दिया जायगा, उसको अपने लाभ के लिए कार्य करने की अनुमति ही न होगी, बल्कि जब तक उसके कार्य मे राष्ट्र की हानि न होकर उन्नति होगी, उसे प्रोत्साहित भी किया जायगा।" इसमें कोई आपत्ति अथवा मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु प्रश्न यह है कि इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए क्या साधन जुटाये गये है? आइये हम तनक उन क़ानूनों और आदेशों को देखें जिनके द्वारा इटली मे समष्टि-राज्य की स्थापना की गई थी। उन राज्यनियमो और आज्ञाओं में हम कोई ऐसी बातें नही पाते जिनसे समष्टि-राज्य के लिए किये गये दावे को उचित कहा जा सके। उनमे तो कारख़ानों के सभी झगड़ो पर अनिवार्य समझौता लादा गया है और तीन से अधिक मजदूरों के हड़ताल करने पर उन्हें दंडित करने के लिए श्रमिक न्यायालयों का विधान है। झगड़ों को निपटाने के लिए उनकी मंशा श्रमिकों और मालिकों की संयुक्त कमेटियाँ बनाने की भी है। परन्तु समष्टि-राज्य इटली की आर्थिक संकट से रक्षा नहीं कर पाया। बेकारी के अभिशाप से भी वह उसे छुटकारा न दिला सका।

यह कहना ही पड़ेगा कि इटालियन फ़ासिज़्म के प्रशंसक इटली के

बाहर भी है। पौल ईनजिग जिसने इटली और जर्मनी दोनों मे फ़ासिज्म के आर्थिक ढाँचे का अध्ययन किया है इटालियन फ़ासिज्म को रचनात्मक बताता है और जर्मन फ़ासिज्म को विध्वंसात्मक। परन्तु उसे भी यह मानना पड़ा है कि अब तक फ़ासिस्ट इटली ने कोई व्यवस्थित आर्थिक ढाँचा नहीं अपनाया है 'यद्यपि उसने परिवतन के लिए उपयुक्त पूर्वावस्था तैयार करली है और उस ओर कुछ प्रगति भी की है।" उपर्युक्त पूर्वावस्था मे उसका तात्पर्य उस अनुशासन और सहयोग की भावना मे है जो उसके कथनानुसार इटालियन लोगों मे दिखाई पड़ती है। समष्टियाँ (Corp-rations) बनाने का विचार सन् १९२६ मे ही हो गया था, परन्तु उनकी स्थापना सन् १९३३ से पहले नहीं हो पाई। उनका कार्य परामर्श देना और समझौता कराना बताया जाता है। इस प्रकार वे केवल सहयोग-समितियाँ प्रतीत होती हैं। जो अच्छी सम्मतियाँ फ़ासिज्म के विषय में अब तक दी गई हैं उनका आधार इटालियन फ़ासिज्म के जन्म-दाता के द्वारा की गई उसकी व्याख्या और समष्टि-राज्य की स्थापना के लिए प्रकाशित हुई आज्ञाओं और कानूनों का सुन्दर रूप है, फ़ासिज्म की कोई सफलता नहीं।

जर्मनी का नाजी आन्दोलन फ़ासिज्म का ही एक भेद है, यद्यपि फ़ासिज्म का प्रारम्भिक जन्मदाता मुसोलिनी ऐसा नहीं मानता। नाजियों के कार्यक्रम में कुछ समाजवादी तत्त्व भी सम्मिलित थे। चूँकि नाजी आन्दोलन का सामाजिक आधार निम्नमध्यवर्ग के वे व्यक्ति थे जो युद्ध और मुद्रास्फीति मे बर्बाद हो चुके थे, इसलिये स्वभावतः उसका जमींदारों और उद्योगपतियों के प्रति शत्रुता का रवैया रहा। परन्तु मुसोलिनी की तरह हिटलर भी बड़े उद्योगपतियों की सहायता से ही सत्ता के शिखर पर चढ़ा। उन उद्योगपतियों ने ही मुख्यतः नाजी आन्दोलन का व्यय उठाया. और वे ऐसा कभी न करते, यदि उनको यह विश्वास न

होता कि वे हिटलर को अपने उद्देश्यों का साधन बना सकेंगे। यही कारण है कि हिटलर की नीति घोर प्रतिक्रियात्मक रही है।

आर्थिक क्षेत्र मे उसकी नीति आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप मे प्रकट हुई है। परन्तु यह नीति जर्मनी के उपयुक्त नहीं है क्योंकि जर्मनी मुख्यतः एक निर्यात करने वाला राष्ट्र है। इस नीति के कारण उसका जीवन-स्तर निश्चय ही नीचे गिर जायगा और अन्त में उसके पल्ले टूटे सपने ही पड़ेंगे।

समाजवाद को कुचलने के लिए जर्मनी का निम्नमध्यवर्ग पूँजीपतियों मे मिल गया है। निम्नमध्यवर्ग बहुधा उच्चमध्यवर्ग का अनुगामी होता है और उसकी प्रमुख अभिलाषा श्रमिकों से अपने को पृथक् रखने की होती है। जर्मनी मे छोटे उत्पादनकर्त्ता और सौदागर बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण नष्टप्रायः हो चुके थे, परन्तु श्रमिक वर्ग के साथ समान आधार पर मिल जाना फिर भी उन्होंने अपमानजनक समझा। पूँजीपतियों और श्रमिकों की शक्तिशाली संस्थाएँ थीं, जो राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रमुख बनी हुई थीं, परन्तु निम्नमध्यवर्ग असंगठित होने के कारण दबा और पिछड़ा हुआ था।

देखना यह है कि पूँजीपतियों और निम्नमध्यवर्ग का यह गठबन्धन कितने दिन चलता है। बेकारी को कम करने के लिए केवल अस्थायी और अपूर्ण उपाय काम मे लाये गये है। फासिज्म का अन्तिम परिणाम क्या होगा--यह कहना कठिन है। हाँ, यह अवश्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि फासिज्म पूँजीवाद-जन्य विषमताओं के कारणों को दूर करने का प्रयास न करके केवल उन विषमताओं को दबा देने का प्रयत्न कर रहा है। अन्तिम परिणाम इस बात पर निर्भर करेगा कि पूँजीवादी ढाँचे के अन्तर मे काम करने वाली विघटनकारी शक्तियों को बस मे कर सकने की क्षमता फासिस्ट राष्ट्र मे है या नहीं।

## समाजवाद एकमात्र मार्ग

यदि फ़ासिज्म को ठुकरा दिया जाय तो केवल समाजवाद मैदान में रह जाता है। यह अब केवल एक सिद्धान्त अथवा विश्वास ही नहीं है, कम से कम एक देश में तो इसे कार्यरूप में परिणत किया जा रहा है। रूसी प्रयोग हमारे सामने है और हम उसका अध्ययन करके अपने निर्णयों पर पहुँच सकते हैं। रूस ही एक ऐसा देश है जो बेकारी से रहित है। उसकी योजनात्मक आर्थिक व्यवस्था के गुणों को पूँजीपति भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं, और अपनी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को भी योजनात्मक बनाने की प्रेरणा उन्होंने रूस से ही प्राप्त की है। रूस मे फैक्टरियों, भूमि, यातायात इत्यादि का सामाजिककरण होगया है, और कृषि-कार्य का समष्टिकरण होता जा रहा है। अव्यवस्था के स्थान पर आर्थिक विकास के लिये योजनात्मक पथ-प्रदर्शन दिखाई देता है। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की नींव अच्छी तरह डाली जा चुकी है। उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और उसके साथ जनता का जीवन-स्तर भी। पहली पंच-वर्षीय योजना खूब सफल रही और दूसरी योजना कार्यान्वित की जा रही है।

• संसार भर के विरोध और वैमनस्य के होते हुए सोवियत राष्ट्र व्यापक आर्थिक संकट के समय मे भी जो इतनी तेजी के प्रगति कर रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि उसके पास विश्व के लिए एक सन्देश है। यह आवश्यक नहीं कि अन्य देश उन सभी अवस्थाओं को पार करें जो रूस मे पार की थीं, और न यह आवश्यक है कि हम रूसी योजनाओं का अक्षरशः अनुकरण करें। नीतियाँ तो परिस्थितिविशेष के अनुसार ही निर्धारित की जा सकती हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रूसी प्रयोग ने एक उदाहरण सामने रक्खा है; और आगे के समाजवादी प्रयोगकर्त्ताओं का मार्ग सरल बना दिया है।

जी० डी० एच० कोल ने कहा है "औद्योगिक उत्पादन इतना बढ़

गया है कि वह पूँजीशाही से मेल नहीं खाता; प्रचुरता के युग में समाजवादी व्यवस्था ही हो सकती है।" जब लाभ का उद्देश्य हट जाता है, तब सब संस्थाएँ पुनर्निर्मित होती हैं, और समाज लाभ कमाने के लिए नहीं बल्कि उपयोग में लाने के लिए उत्पादन करता है। राज्य उत्पादन और वितरण की व्यवस्था एक योजना के अनुसार करता है। 'प्रत्येक को 'आवश्यकतानुसार मिले' यह वस्तुओं के विभाजन का अन्तिम ध्येय है, परन्तु इसकी प्राप्ति एक साथ नहीं हो सकती।

## कुछ प्रचलित भ्रान्तियाँ

मैं समझता हूँ कि समाजवाद के विषय मे प्रचलित कुछ भ्रान्तियों का निवारण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। ये भ्रान्त धारणाएँ समाजवाद के विरोधियों मे ही नहीं, उसके अनुयायियों मे भी फैली हुई हैं। इनमें मे बहुत-सी तो उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं यदि हम यह ध्यान रक्खें कि हम वैज्ञानिक समाजवाद का अनुशीलन कर रहे है, कवियों के समाजवाद का नहीं। हम यह मान बैठते है कि रूसी समाजवाद आदर्श रूप है और हमारी सम्पूर्ण आलोचना इसी दृष्टिकोण मे होती है। यदि हम यह ध्यान रखते कि समाजवाद एक लम्बी विकास-शृंखला का नाम है और उसकी एक दिन मे प्रतिष्ठा नहीं हो सकती तो हम इस भ्रान्ति मे न पड़ते। यह स्वाभाविक है कि प्रारम्भिक अवस्था मे समाजवाद के ऊपर अपनी जननी पूँजीवादी व्यवस्था का कुछ प्रभाव रहे। मै उन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास नहीं करूँगा जो रूस के विषय मे प्रायः पूछे जाते है; परन्तु मैं समाजवाद मे सम्बन्धित एक दो बातों के विषय मे प्रचलित भ्रान्तियो के बारे मे अवश्य कुछ शब्द कहना चाहूँगा।

## इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या जो मार्क्स की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण

देते हैं, गलत समझी गई है। इस भौतिकवादी शब्द के प्रयोग से प्रायः यह समझ लिया जाता है कि वैज्ञानिक समाजवाद जिसका मार्क्स ने प्रचार किया था, एक भौतिकवादी सिद्धान्त है। लोग कहते हैं कि मार्क्स ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है, उसकी आध्यात्मिक मूल्यों में कोई आस्था नहीं थी, और उसके लिए विचारों की शक्ति का कोई महत्त्व न था। यह कहा जाता है कि मार्क्स ने केवल जड़ प्रकृति का अस्तित्व माना है और इतिहास की गति और विकास मे उसी का प्रभुत्व रक्खा है। ये सभी कथन त्रुटिपूर्ण हैं। मार्क्स चेतन और जड़ दोनों को इतिहास की बनाने वाली शक्तियाँ मानता है। वह मनुष्य को इतिहास की प्रक्रिया मे रचनात्मक कर्त्ता मानता है। मनुष्य की स्वतन्त्र क्रियाशक्ति का उसके दर्शन में स्थान है, परन्तु उसका कहना है कि बाह्य स्थिति मानव-मस्तिष्क के कार्य की सीमा निर्धारित करती है। आर्थिक बातों का इतिहास की प्रगति में बड़ा हाथ रहता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि और कोई तत्त्व उसमे योग नहीं देते। मार्क्स का कहना केवल यह है कि किसी भी विचार का इतिहास की धारा पर तभी प्रभाव पड़ सकता है जब वह कार्य रूप मे परिणत होकर प्रत्यक्ष हो जाता है। उसने चेतन और जड़ के महत्त्व पर तुलनात्मक विचार कहीं नहीं किया है। दोनों का एक-सा महत्त्व है। मनुष्य बाह्य स्थिति के बिना कुछ नहीं कर सकता और बाह्य स्थिति मनुष्य के क्रियात्मक सहयोग के बिना वांछित फल स्वयमेव नहीं दे सकती। यथार्थ में मार्क्स ने अपनी इतिहास की व्याख्या मे भौतिकवादी शब्द इसलिये रक्खा है जिसमे उसका सिद्धान्त हीगिल के उस आदर्शवाद से पृथक् भासित हो सके जिसमे दृश्यमान जगत् के अस्तित्व की अवहेलना करके केवल विचार को प्रधानता दी गई है।

मार्क्स मानता है कि इतिहास के क्रमिक विकास में बहुत से तत्व योग देते हैं। नैतिक और राजनैतिक ढाँचे उत्पादन-प्रणाली से ही निकलते

हैं, परन्तु आगे चलकर वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेते हैं और इतिहास की प्रगति पर प्रभाव डालते हैं। मार्क्स ने सदैव यह कहा है कि प्रारम्भ में कार्य रूप होने वाली वस्तु में भी स्वतन्त्र कारण बन जाने की क्षमता होती है। अतः यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास का केवल एक कारण माना है।

## पूर्णतावादी अलोचना

आदर्श समाजवाद के प्रभाव के कारण लोग यह भी समझने लगे हैं कि समाजवाद से तात्पर्य जीवन के सभी क्षेत्रों में आदर्श अवस्थाओं का होना है। जब रूस की वर्तमान स्थिति इस काल्पनिक आदर्श के समकक्ष नहीं बैठती, तो वे चिल्लाते हैं कि समाजवादी प्रयोग सफल नहीं हो रहा है। परन्तु वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्त के लिये ऐसे कोई दावे नहीं किये थे। उन्होंने तो केवल इतना कहा था कि जब समाजवादी क्रान्ति सफल हो जाती है तभी इतिहास में सर्वप्रथम मनुष्य अपने पशु-जीवन से निकलकर मनुष्य के समान कार्य करने लगता है। वे भली प्रकार जानते थे कि मानव-प्रकृति को एक दिन में नहीं बदला जा सकता। परन्तु यह निस्सन्देह है कि समाजवाद के उदय होते ही मनुष्य एक नवीन जीवन में प्रवेश करता है। वह देवता तो समाजवादी राज्य में भी नहीं बन सकेगा; परन्तु यह अवश्य है कि उसका चरित्र बहुत ऊँचा उठ जाएगा क्योंकि आज की स्वार्थपूर्ण और अर्थलोलुप व्यवस्था का कुप्रभाव वहाँ नहीं होगा।

## आर्थिक समानता

लोग यह भी कहते हैं कि रूस में समाजवाद नहीं है क्योंकि वहाँ समानता नहीं है। परन्तु किसी भी समाजवादी ने यह कभी नहीं कहा कि समाजवादी राज्य में सब मनुष्य सब प्रकार से समान हो जाएँगे। सम्पत्ति

वितरण में समाजवाद का अन्तिम ध्येय है 'प्रत्येक को आवश्यकतानुसार' मार्क्स ने समानता की इस प्रकार व्याख्या की है। वह कहता है :—

"एक मनुष्य दूसरे से शारीरिक और मानसिक शक्तियों में बढ़कर होगा और इसलिये उतने ही समय मे अधिक काम करेगा, अथवा अधिक समय तक काम कर सकेगा। फिर कोई मजदूर विवाहित होगा, कोई अकेला; किसी के अधिक बच्चे होंगे, किसी के कम; इत्यादि-इत्यादि। यदि दो व्यक्तियों की कार्य शक्ति समान हो, तो उन्हें समान पारिश्रमिक तो मिलेगा, परन्तु यथार्थ मे वह एक के लिए दूसरे के अधिक होगा, और फलतः उनमे से एक दूसरे से अधिक धनी होगा, इत्यादि-इत्यादि।" यथार्थ मे, श्रमिक-वर्ग का समानता का नारा पूँजीवादी व्यवस्था के विभिन्न वर्गों को मिटाने के लिए था, जैसे फ्रेंचक्रान्ति मे पूँजीवादी मध्यवर्ग का समानता का नारा सामन्तशाही के विशेषाधिकारों को मिटाने के लिये था। मार्क्स ने कहा है :—"श्रमिक वर्ग की समानता की माँग का यथार्थ अभिप्राय वर्गों को मिटाना है। समानता की माँग, यदि आवश्यकता मे अधिक बढ़ जाय, तो मूर्खतापूर्ण हो जाती है।"

## भारत यूरोप नहीं है

आलोचक लोग कह सकते हैं कि समाजवाद अच्छी चीज है, और जहाँ तक यूरोप का सम्बन्ध है, यह ठीक है कि समाजवाद ही पूँजीवाद के स्थान पर अभिषिक्त होगा। परन्तु यह कैसे मान लिया जाय कि भारत के कृषि-प्रधान देश रहते हुए, यहाँ समाजवाद के उपयुक्त स्थिति कभी उत्पन्न हो सकती है। उनकी युक्ति यह है कि क्योंकि भारत का आन्तरिक विकास पूँजीवादी ढंग का नहीं है, इसलिए यहाँ समाजवाद की सफलता की कोई सम्भावना नहीं है। परन्तु यह तर्क उन दिनों मे ठीक था जब देश आर्थिक इकाइयों मे स्वतन्त्र रहते थे। जब से पूँजीवाद साम्राज्यवाद की अवस्था

में पहुँच गया है, ऐसा नहीं है। अब तो देश विश्व-अर्थ-व्यवस्था की शृंखला की लड़ियाँ बन गए हैं। इसलिये अब हमें क्रान्ति के उपयुक्त परिस्थितियाँ विश्व भर की साम्राज्यवादी अर्थ-व्यवस्था में ढूँढकर उन पर सामूहिक रूप से ध्यान देना होगा। यह सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा एक है और इसमें कुछेक ऐसे देशों की स्थिति जो औद्योगिक दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं हैं, क्रान्ति की बाढ़ में विशेष बाधक न होगी। बशर्ते कि सम्पूर्ण ढाँचा सामूहिक रूप से क्रान्ति के उपयुक्त बन जाय।

ऐसी दशा में क्रान्ति पहले उन देशों में नहीं होगी जो औद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक विकसित हैं, बल्कि उन देशों में होगी जहाँ साम्राज्यवाद की शृंखला सबसे अधिक कमजोर है। इसलिये यह सम्भव है कि जिन देशों में पहले क्रान्ति हो, वे औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित हों।

यही कारण था कि रूस में क्रान्ति हुई। वहाँ साम्राज्यवादी शृंखला कमजोर थी, और पीड़ित जनता आश छोड़कर मरने-मारने के लिए तैयार थी।

यदि उपयुक्त स्थिति हो, तो क्रान्ति के पहले ऐसे देश में होने की पूरी सम्भावना है जहाँ जनता आर्थिक शोषण से बर्बाद हो चुकी हो, चाहे वह देश औद्योगिक दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में विकसित न हो। भारत में यही स्थिति विद्यमान है, और जैसे-जैसे संकट बढ़ रहा है, स्थिति बिगड़ती जा रही है। यह सत्य है कि अल्प विकसित देश में संक्रान्ति-काल अधिक लम्बा होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे देश में साम्राज्यवादी दमन के कारण क्रान्ति अधिक शीघ्रता से होती है।

## भारत में समाजवाद

समाजवाद ने इस देश में पाँव जमा लिए हैं और कांग्रेस और देश में प्रतिदिन उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही है। कांग्रेस में इस

नवीन विचार-पद्धति को प्रजातन्त्रवादी समझदारों का आधार मिला है। कांग्रेस के बाहर समर्थकों में श्रमिकों के प्रतिनिधि है, और कुछ-कुछ कृषक लोग है, जो साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के वास्तविक क्रान्तिकारी तत्त्व होते हैं। यथार्थ में, मजदूर वर्ग क्रान्ति का अग्रिम दस्ता है और कृषक और बौद्धिक-वर्ग उसके सहायक-मात्र। कांग्रेस में हममें से बहुत से तो अभी केवल विचार से ही समाजवादी है, परन्तु दीर्घकाल से राष्ट्रीय संघर्ष से सम्बन्ध रखने के कारण हम जनता के निकट सम्पर्क में आते रहे है, और हमारे केवल किताबी सिद्धान्तवादी बन जाने का कोई डर नहीं है। हमे कृषकों और मजदूरों को अपने साथ मिलाकर अपने आन्दोलन का सामाजिक विस्तार करना चाहिये। मुझे आशा है कि हम केवल पढ़े-लिखों को समाजवादी विचारधारा के रहस्य समझा कर ही सन्तुष्ट न रहेंगे। इससे मेरा तात्पर्य समाजवादी अध्ययन शाखायें बनाने, और भारतीय भाषाओं में समाजवादी साहित्य सृजन करने के महत्त्व को कम करना नहीं है। वह बहुत अच्छा कार्य है और अत्यन्त आवश्यक भी है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि हमारे सामने मुख्य कार्य है जनता को राजनैतिक शिक्षा देना, उसमें प्रतिदिन आर्थिक प्रचार की हलचल पैदा करते रहना, और उसमें राजनैतिक चेतना पैदा करके उसे संगठित करना। केवल जनता में कार्य करने से ही हम अपने आपको प्रतिक्रियावादी प्रभाव से मुक्त रख सकेंगे, और एक जनतावादी दृष्टिकोण विकसित कर सकेंगे। जन-समुदाय को पीछे पटक देने की एक बड़ी भूल हम बौद्धिक लोग प्रायः कर बैठते है। हम सदैव उन्हें कुछ सिखाने को तो तत्पर रहते है, परन्तु उनसे कुछ सीखने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं रहते। यह रवैया गलत है। हमें उन्हें समझने का प्रयत्न करना चाहिए और उनकी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं का सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहिये। अलैक्जैण्डर हरजिन ने सच कहा है कि मनुष्यों पर वही प्रभाव डाल सकता है जो उनके स्वप्नों को उनसे भी अधिक

स्पष्ट रूप में देखता हो । इस नवीन अनुभव से हमें लाभ होगा, हम अपनी अनेक विचार गुत्थियों को सुलझा सकेंगे, और हमारी विचार धारा में यथार्थवाद का वह पुट आ जायगा जो किसी भी क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए अत्यन्त आवश्यक है । सबसे अधिक आवश्यकता तो इस बात की है कि हम यह न भूलें कि कर्म करना हमारा मूलमन्त्र है और संघर्ष में ही अधिकाधिक फल मिलता है । लेनिन ने कहा है—"यदि शोषित जनता के सामने ऐसे उदाहरण न होते, जहां विभिन्न उद्योगों के श्रमजीवियों ने तुरन्त अपनी दशा सुधारने के लिए पूँजीपतियों को बाध्य कर दिया था, तो उनको कभी भी भारी संख्या में क्रांति की ओर खींच कर लाना सम्भव न होता । अतः यह आवश्यक है कि हम मजदूरों और कृषकों की वर्तमान संस्थाओं में सम्मिलित हों, और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उनकी नवीन संस्थाएँ बनाएँ ।

हम अपने सामने जो कार्य है उसे तभी कर सकते हैं जब हम समाजवाद के उद्देश्यों और सिद्धान्तों को समझें, मार्क्स के बताये हुए द्वन्द्वात्मक तरीके को स्थिति के वास्तविक ज्ञान के लिए काम में लाना सीखें, और फिर उस ज्ञान को अपने कार्य का आधार बनाएँ । सबसे अधिक हमें रूढ़िवाद और सम्प्रदायवाद से बचना चाहिये । स्वर्गीय समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से दूर रहकर हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आधार लेना चाहिये । वर्तमान व्यवस्था में कुछ ऊपरी हेर-फेर से ही संतुष्ट हो जाना हमारा काम नहीं । स्थिति का तकाजा है कि मौजूदा सामाजिक ढांचे में आमूल परिवर्तन किया जाय । इससे कम में काम नहीं चलेगा । हमें एक ऐसी सुसंगठित पार्टी का निर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिये जो अपने ध्येय और उसकी प्राप्ति के उपायों को भली भांति जानती हो, और जिसे नष्ट करना ही नहीं, निर्माण करना भी आता हो । बिना ध्येय और साधनों के स्पष्ट ज्ञान के सफलता का मिलना असम्भव है ।

## अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी पार्टी

एक अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस समाजवादी पार्टी बनाने का प्रश्न भी हमारे विचाराधीन होगा। मेरी तुच्छ सम्मति में इस क़दम को आज उठाने के लिए हमारे पास भूमि तैयार नहीं है। इसलिये मैं बिहार के समाजवादी दल के प्रस्ताव के पक्ष में हूँ कि एक संगठन-समिति बनाई जावे जिसके अनेक प्रादेशिक सैक्रेटरी हों, और वे एक अखिल भारतवर्षीय संगठन के लिए भूमि तैयार करें। जहाँ तक मुझे विदित है, कांग्रेस में इस समय केवल तीन या चार प्रान्तीय समाजवादी समुदाय हैं। बिहार-समाजवादी पार्टी सन् १९३१ मे बनी थी, परन्तु वह चल न सकी; क्योंकि बीच मे राष्ट्रीय संघर्ष आ पड़ा। बम्बई समाजवादी दल पिछले वर्ष ही पूना सम्मेलन के पश्चात् बना था। संयुक्त प्रान्त मे समाजवादी विचारधारा के बहुत लोग हैं, परन्तु अभी तक वहाँ समाजवादी दल बनाने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया गया है। हाँ, बनारस मे अवश्य एक स्थानीय ग्रुप अभी हाल ही मे बना है। समाचार-पत्र बताते हैं कि देहली में भी एक समाजवादी दल है। अन्य प्रान्तों की मुझे जानकारी नहीं है। संगठन का पहला क़दम प्रान्तीय और स्थानीय दलों का निर्माण करना होगा। यह प्रारम्भिक कार्य हमारा बहुत-सा समय ले लेगा, और संगठन समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह इसे तीव्र बनाये। मुझे आशा है कि आगामी कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर हम अपनी पार्टी बना सकेंगे।

## कांग्रेस की मीटिंग अनिवार्य

हम सबकी राय है कि सम्पूर्ण स्थिति का सिंहावलोकन करने और भविष्य का कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। यह उत्साहप्रद है कि विभिन्न प्रान्तों के बहुसंख्यक कार्यकर्ता भी इसी विचार के हैं। ऐसा होना भी चाहिये, क्योंकि वर्तमान

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से, जिसका चुनाव सन् १९३१ में हुआ था कांग्रेसियों की आज की भावना का प्रतिनिधित्व करने की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन मेरे विचार से हमारा यह हठ न्यायसंगत न होगा कि कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर सम्पूर्ण कांग्रेस के अधिवेशन में ही विचार किया जाय। यह तो मैं जानता हूँ कि कांग्रेस ही उस विषय में अन्तिम निर्णय कर सकती है। परन्तु क्या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को, काँग्रेस की सहमति की अपेक्षा से, अस्थायी रूप से भी उसका निर्णय नहीं करने दिया जा सकता?

## स्वराज्य पार्टी

परन्तु हमारे सामने मुख्य विचरणीय प्रश्न दूसरा है, और वह है स्वराज्यपार्टी की कांग्रेस से सम्बन्धित स्थिति का। क्या स्वराज्यपार्टी कांग्रेस संगठन की एक स्वतन्त्र इकाई के रूप मे अलग संस्था होगी और कांग्रेस में एक स्वाधीन पार्लियामेण्टीय दल के रूप मे कार्य करेगी, अथवा वह केवल कांग्रेसकार्य समिति की देख-रेख मे ( जैसा उसके नेता चाहते हैं ) न रहकर सम्पूर्ण कांग्रेस के नियन्त्रण और अनुशासन में रहेगी? मै इस सवाल पर मोटे तौर पर ही विचार करूँगा। मुझे डर है कि क्रांतिकारी आन्दोलन के स्वस्थ प्रभाव से रहित होकर स्वाधीन स्वराज्य संगठन कालान्तर मे एक पक्का विधानवादी और सुधारवादी दल बन जायगा और उसकी मनोवृत्ति कांग्रेस की क्रान्तिकारी नीति के बिलकुल विपरीत बन जायगी। यह याद रहे कि नई स्वराज्यपार्टी ने जिस नीति की धूमिल-सी झाँकी दी है, वह उस स्वराज्यपार्टी की नीति से बिलकुल भिन्न है जिसके साथ श्रीयुत सी० आर० दास और पण्डित मोतीलाल नेहरू जैसो के पावन नाम जुड़े हुए है। उन महानुभावों ने तो धारा-सभाओं के भीतर से लगातार विरोध करने की नीति निर्धारित की थी

और उन्होंने पद ग्रहण के विरुद्ध निर्णय किया था। परन्तु नई स्वराज्य-पार्टी ने ऐसी कोई नीति नहीं घोषित की है। यह स्पष्ट है कि वर्तमान् नीति के निर्धारक पहले लोगों के पदचिह्नों पर नहीं चले हैं। अबकी स्वराज्यपार्टी निश्चय ही एक सुधारवादी संगठन है। उसके पास कोई विघ्नकारी हथकण्डे नहीं हैं। पदग्रहण के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर वह एकदम चुप है। उसके कार्यक्रम और नीति का उदारदलियों के कार्यक्रम और नीति से विभेद करना कठिन है। यह सत्य है कि उसका विचार कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाने और ग्राम-संगठन करने का है। परन्तु यह समझना कठिन है कि ग्राम-संगठन से, उसके कार्यक्रम का बनाने वालों का तात्पर्य क्या है? क्या वे ग्रामों में सेवा का कार्य करना और आदर्श ग्रामों की स्थापना करना चाहते हैं, जैसा कि गवर्नमेण्ट देश के कुछ भागों में कर रही है? अथवा क्या वे ग्राम-राज्यों को पुनर्जीवित करना चाहते हैं? यह ध्यान देने योग्य बात है कि कांग्रेस के समान वे भी मजदूरों से कतराते हैं। वे विदेशों में प्रचार के लिए कार्यालय बनायेंगे, परन्तु अपने देश में धारासभाओं और स्थानीय परिषदों के बाहर राष्ट्रीय माँगों की पूर्ति के लिए क्या साधन जुटायेंगे? राष्ट्रीय माँगों को मूर्त रूप देने के लिए जो विधान-परिषद् वे बुलाना चाहते हैं, वह मृत सर्वदलसम्मेलन का ही दूसरा संस्करण प्रतीत होती है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने जब विधान-परिषद् की जनतन्त्रीय माँग रक्खी थी, तब उनके मन में जो योजना थी वह बिलकुल भिन्न थी। हमारे स्वराजी मित्रों ने विधान परिषद् का नाम तो लिया है, परन्तु उन्होंने उस सारी चीज़ को भोंडी बना दिया है। मेरे विचार में कांग्रेस के भीतर एक केवलमात्र सुधारवादी दल की स्थापना कांग्रेस के लिए अहितकर ही होगी, जब तक कि वह दल कांग्रेस का एक अभिन्न भाग बनकर रहने और उसके द्वारा अनुशासित होने के लिए तैयार न हो।

# अब का कार्य

बन्धुओ, हम यहाँ एक संकट के अवसर पर एकत्रित हुए है। कल अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक वर्षों के बाद हो रही है। आपको यह तय करना है कि उसके सामने समाजवादियों की ओर से कौन से प्रस्ताव रक्खे जायँ। हमें कांग्रेस को सशक्त बनाने के उपाय ढूँढने हैं। यह कोई आसान काम नहीं है।

मैं जानता हूँ कि आज हम गिरे हुए और हतोत्साह हैं। कांग्रेस पर पराजय-भावना छाई हुई है। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में निराशा की कोई बात नहीं है। यह सही है कि राष्ट्रिय स्वतन्त्रता देखने में नहीं आती, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राष्ट्रिय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अधिक सशक्त हो गया है। और यह भी कम लाभ की बात नहीं है कि हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कोई सौदा अथवा समझौता नहीं किया है। हमने कोई आत्मसमर्पण नहीं किया, और कांग्रेस की ध्वजा कभी नहीं झुकी। महात्माजी वैसे ही अडिग हैं, यद्यपि उन्होंने रुक जाने की सलाह देकर औरों के लिए मार्ग साफ़ कर दिया है। सबसे अधिक याद रखने की बात यह है कि कोई भी सच्चा प्रयास विफल नहीं होता। लेनिन के शब्दों में "क्रान्ति की निस्वार्थ साधना, और क्रान्तिकारी विश्वास से जनता से की गई अपील कभी निष्फल नहीं होती, चाहे क्रान्ति के बीज बोने और फसल काटने में अनेक वर्षों का अन्तर पड़ जाय।"

यह स्पष्ट है कि हम केवल कांग्रेस के रचनात्मक कार्य से सन्तुष्ट नहीं रह सकते। जो उस प्रकार का कार्य करेंगे वे आदर के पात्र हैं, परन्तु हम अपने को धोखा देकर यह झूठा विश्वास नहीं कर सकते कि इस प्रकार के कार्यों से जनता अपने आप उठ खड़ी होगी। न हम उस सुधारवादी और विधानवादी नीति के पोषक हो सकते हैं, जिस पर कांग्रेस

की नई स्वराज्यवादी टुकड़ी चलेगी। क्रान्ति के उपयुक्त परिस्थिति मे सीधी कार्यवाही और बाकी दिनो मे रुचि के अनुकूल रचनात्मक अथवा धारा-सभाई कार्य करने की नीति हमे पसन्द नही है। स्थिति तो क्रान्ति के उपयुक्त ही चल रही है। औद्योगिक संकट अभी टला नही है और खुश-हाली लौटने के अभी कोई आसार नहीं दिखाई देते। भारत मे, देहात का संकट भी बढ़ता जा रहा है। और गवर्नमेण्ट ने जो उपाय सोचे है— उत्पादन को खपत के अनुसार नियन्त्रित करना, इत्यादि—वे काफी नहीं हैं। इसलिये यदि उपयुक्त नेतृत्व हमारे पास हो तो हम जन-समुदाय को अपने साथ लेकर विजय पर विजय प्राप्त कर सकते है। समाजवादी सिद्धान्तो से सुसज्जित, जनता मे आर्थिक चेतना और राजनीतिक संगठन फैलाने के कार्य मे लगे हुए हम भविष्य की ओर विश्वासपूर्वक देख सकते हैं और समय आने पर भारत के संगठित जन-समुदाय को स्वतन्त्रता और पूर्ण मनुष्यता तक पहुंचा देने की आशा कर सकते है। क्रान्ति की अगली लहर पिछली मे बहुत बड़ी और शक्तिशालिनी होगी और यह मैं आपको विश्वास दिला दूँ कि वह उतनी दूर नहीं है, जितनी कुछ व्यक्ति समझते है।

वर्ग-भेद अधिक बढ़ता जा रहा है। उच्चश्रेणी के लोगों का एक भाग, आने वाले सुधारो के आकर्षण के कारण साम्राज्यवादी रंग मे रँग गया है। श्वेतपत्र मे जिस नवीन साम्राज्यवादी ढाँचे का आभास दिया गया है, उससे उन्हें अपनी सम्पूर्ण उचित इच्छाओं की भरपूर पूर्ति होने की आशा है। वैसे भी, गद्दारो की यह सेना बढ़ेगी ही। इसलिये हमें अपनी कतारों मे नये शक्तिशाली सैनिक भरती करने चाहियें जो भारत के किसान और मजदूर हैं। यह हम तभी कर सकते हैं जब हम कांग्रेस के भीतर निरन्तर आर्थिक कार्यक्रम लाने का घोर उद्योग करते रहें, जिससे

राष्ट्रिय आन्दोलन समाजवाद की ओर उन्मुख हो सके। ऐसा करने से ही हम भारत को जनतन्त्र के योग्य बना पायेंगे।

बन्धुओ, आज हम कांग्रेस के भीतर समाजवाद के बीज डाल रहे हैं। हमारे महान् नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अनुपस्थिति में हमारा कार्य अत्यन्त कठिन हो गया है। हम नहीं जानते कि कितने समय तक हम उनके अमूल्य परामर्श, पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व से वंचित रहेंगे। मुझे विश्वास है कि वे कांग्रेस के भीतर इस नई पार्टी के जन्म का हर्ष से स्वागत करेंगे और जेल के सींकचों के पीछे से हमारी प्रगति को बड़ी दिलचस्पी से देखते रहेंगे। उनके बन्दी जीवन की अवधि में हम उनके महान् उदाहरण से प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करें और इस विश्वास के साथ अपने पथ पर अग्रसर हों कि जिस उद्देश्य का प्रतिनिधित्व हम करते हैं, वह अन्त में विजयी होगा।

: २ :

# कृषक और भारतीय क्रान्ति

( १ ) भारतीय कृषक ।

( २ ) संयुक्त-प्रान्त में किसान आन्दोलन ।

# कृषक और भारतीय क्रान्ति

## [ १ ]

## भारतीय कृषक

भारतीय किसान की कष्ट सहने की असीम क्षमता विख्यात है। उसके धैर्य का पार नहीं। जिन शारीरिक और नैतिक अवस्थाओं मे वह रहता है, वे अवर्णनीय है। पीढ़ी दर पीढ़ी उसके ऊपर अनेक अत्याचार होते रहे है। समाज की अन्य सभी श्रेणियों—भूमिपतियो, बोहरो, व्यापारियो, पण्डे-पुजारियो और राजकर्मचारियो का भार उसे वहन करना पड़ा है। परन्तु इतने पर भी वह सामान्यतः मूक रहा है, केवल जब यन्त्रणा अत्यधिक असहनीय हो उठी है, तब उसके क्रोध का ज्वालामुखी विप्लव के रूप मे फूट निकला है। ऐसे स्थानीय विद्रोह कृषक-इतिहास मे अगणित हुए है, परन्तु उनका फल उसे दूने कष्ट और क्रूरता के रूप मे मिला है। राष्ट्रीय कृषक-विप्लव कम और दीर्घकाल के अन्तर से हुए हैं, और यद्यपि वे बड़े पैमाने पर संचालित किये गये, परन्तु तो भी उनका अन्त या तो क्षणिक राजनीतिक सत्ता-प्राप्ति के उपरान्त पराजय मे हुआ, अथवा ऐसे मामूली सुधारो मे जो राज्य नियमो और शासन मे उसका विश्वास पुनर्जीवित करने के लिए आवश्यक थे। फ्रेंच क्रान्ति मे सामन्त-शाही को पछाड़ने के लिए कृषको ने मध्यवर्गीय नगर-निवासियो का साथ दिया था, परन्तु उसके पुरस्कार स्वरूप उनके हित मे जो कुछ किया गया वह ऋणात्मक ( negative ) ढंग का था। उन्हे सामन्तों की दासता से तो मुक्ति मिल गई, परन्तु अपना परिश्रम किसी के भी हाथ बेचकर

उनको दास बन जाने की ही स्वतन्त्रता मिली। पूँजीवाद के नवीन आर्थिक ढाँचे को श्रम प्राप्त करने के लिए, उनकी इस स्वतन्त्रता की आवश्यकता थी।

परन्तु प्रथम विश्व युद्ध और रूसी क्रान्तिने कृषकों के लिए एक नया युग ला दिया। रूसी क्रान्ति ने उनकी दासता की शृंखलायें ही नहीं तोड़ दीं, बल्कि उनके ऊपर सत्ता न्यौछावर कर दी। उसने उन प्रारम्भिक अवस्थाओं का सृजन किया, जो कृषकों की वास्तविक स्वतन्त्रता के लिए नितान्त अनिवार्य हैं। कृषकों ने अब अपने अपमान भरे अतीत का गट्ठर उतार फेंका; उनकी परम्परागत गतिहीनता लुप्त हो गई। उनकी विचार संकीर्णता का दुर्ग ढहता गया। अब वे केवल भूमि की भूख से व्याकुल न रहे, बल्कि उन्होंने न्याय, स्वतन्त्रता और संस्कृति का भी आश्वासन चाहा। उन्हें अपने ऊपर भरोसा होने लगा, और इतिहास में प्रथम बार वे अपना राजनैतिक महत्त्व अनुभव करने लगे।

युद्ध-जनित सामाजिक उथल-पुथल ने भी पूर्वी यूरोप के कृषि-प्रधान देशों की आकृति बदल डाली। भूमिपतियों का पतन हुआ और उनके विशेषाधिकार, अपर्याप्त हर्जाना देकर अथवा बिना क्षतिपूर्ति किये ही, उनसे छीन लिए गये। इस बार के सुधार स्वप्नवत् नहीं हुए हैं। वे वास्तव में क्रान्तिकारी आकार-प्रकार के हैं। उनसे देशों के सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर भूमिपतियों का सामन्तशाही आधिपत्य समाप्त हो गया है।

## पूर्व का आगे बढ़ना

प्रथम विश्वयुद्ध ने पूर्व पर भी गहरा प्रभाव डाला। भारत में कृषक आन्दोलन का प्रारम्भ युद्धकाल में ही हुआ। अवध के कुछ परगनों में बेदखली के कानूनों में संशोधन कराने और दाब-धौंस की लागों और बेगार को मिटाने के लिए एक शक्तिशाली आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। कृषि में

उत्पन्न पदार्थों का मूल्य असामान्य रूप से बढ़ जाने के कारण, तालुकेदार अपने पुराने आसामियों को बेदखल करके नयों को अधिक मूल्य पर ज़मीन उठाने के लोभ मे फँसे हुए थे। कृषकों का आन्दोलन कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के साथ ही हुआ और गवर्नमेण्ट को स्थिति सँभालने के लिये कुछ करने को बाध्य होना पड़ा। परिणामतः लगान-कानूनों में संशोधन किये गये। यह पहला ही अवसर था, जब अवध मे कृषक-वर्ग मे तीव्र जागृति और हलचल हुई।

शनैः शनैः कृषकवर्ग का परम्परागत दृष्टिकोण बदलने लगा और जमींदारों और भूमिपतियों को अपना स्वाभाविक नेता न मानकर वे कांग्रेस के मध्यवर्गीय नेतृत्व की ओर सहायता और सहारे के लिए देखने लगे।

सन १९२९ मे संसार मे एक भारी कृषि-संकट आया। भारत जैसे औपनिवेशिक देशों पर उसका विशेष आघात हुआ, क्योंकि साम्राज्यवादी देशों ने अपना बहुत सा संकट-भार उपनिवेशों पर डाल दिया। स्टालिन ने १७ वी कांग्रेस को दी गई अपनी रिपोर्ट मे कहा था "पूँजीवाद औद्योगिक स्थिति को कुछ-कुछ सँभालने मे सफल हो गया है........उपनिवेशों और आर्थिक दृष्टि से दीन-हीन देशों के कृषकों का गला काटकर, और उनके श्रम से उत्पन्न वस्तुओं, मुख्यतः कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के भाव और भी घटाकर।" उस भयानक मन्दी के कारण लाखों कृषि-कर्मी बरबाद हो गये। उनकी जो थोड़ी-बहुत बचत थी वह समाप्त हो गई और चाँदी के गहनों के रूप मे उनकी जो पूँजी थी, वह भी भूमि-कर के पेट मे चली गई। कृषकों के ऊपर ऋण का बोझ और भी अधिक बढ़ गया। बहुत से कृषक और छोटे जमींदार अपनी ज़मीनें उन लोगों को दे देने के लिए बाध्य हुए जिनके पास अधिक पूँजी थी और जो भूमिपतियों को मुँह माँगा देने मे समर्थ थे। इस संकट के कारण छोटे और मध्यम किसान पूर्णतः उजड गये। दरिद्र ग्रामीणों की दशा दयनीय थी। व्यापक असन्तोष उठकर

कृषक-विद्रोहों के रूप मे व्यक्त हो रहा था। उत्पादन मे और कम उपजाऊ जमीन के जोतने मे कमी आ गई थी। अकेले संयुक्तप्रान्त मे छोड़े गये भूभागों की संख्या २६८६० से बढ़कर ७१४३० हो गई थी। परन्तु कृषक-वर्ग के भारी कष्टों के होते हुए भी गवर्नमेंट ने २५६२८४ मामलों में बल-पूर्वक भूमि-कर वसूल करने की आज्ञा दी। देहात मे असन्तोष का पारावार न रहा, और अनेक स्थानों पर सरकार से सहारा पाने के लिए लगानबन्दी के आन्दोलन चलाये गये। संयुक्तप्रान्त मे स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि सरकार को अन्त मे कृषकों के लिए स्थाई रूप से लगान कम करने को बाध्य होना पड़ा।

यह देहाती संकट उस व्यापक पूँजीवादी संकट का एक भाग था जो अपूर्ण और अस्थायी रूप मे टलकर भी ज्यों का त्यों बना रहता है, और जिसके टलने की पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था मे कोई सम्भावना नहीं है।

दीर्घकालीन आर्थिक मन्दी मे कृषक-आन्दोलन को भारी बल मिला। बंगाल और मद्रास मे कृषक संगठन तेजी से बनने लगे। लगान और कर कम कराने और ऋण मे राहत पाने के लिए कृषक-संघर्ष अधिक बहुतायत मे होने लगे। सन् १९३५ के भारतीय ऐक्ट के अनुसार बहुत से कृषकों को प्रथम बार वोट देने का अधिकार मिला, और इससे उनमे एक नवीन आत्मविश्वास आ गया। जब उनके अत्याचारी सामन्त स्वामी वोट पाने के लिए उनकी चापलूसी करने लगे तो उन्हें [ क्षण भर को ही सही ] यह अनुभव होने लगा कि उनकी भी देश मे कुछ हस्ती है। चुनावों के समय कृषक-समुदायों मे एक आत्मनिर्भरता की लहर दौड़ गई और उन्होंने कांग्रेस को, जिसने अपने निर्वाचन-घोषणा-पत्र मे कृषकों की तात्कालिक माँगें सम्मिलित कर ली थीं, अपने वोट प्रदान किये। काँग्रेस ने उनकी माँगों का पक्ष लेकर, और निरन्तर उनकी सेवा करके उनका विश्वास और सहयोग प्राप्त कर लिया था। उसने सफलतापूर्वक जन-समुदाय के आर्थिक

संघर्षों का भी संचालन किया था। आम चुनावों के समय कांग्रेस की प्रतिष्ठा और प्रभाव देहात में बहुत बढ़े हुए थे। पहले पहल राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर जनता गतिशील थी। सब ओर नव-जीवन हिलोरें ले रहा था। जनता ने अपनी उदासीनता उतार फेंकी थी, और सोचना-समझना प्रारम्भ कर दिया था। वह अपने से पूछ रही थी कि जमींदारों को, जो ग्राम की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था मे कोई उपयोगी भाग नही लेते, उसकी कमाई के एक बड़े भाग से उसको वंचित करने का क्या अधिकार है ?

फिर इस समय समाज-शास्त्री यह बता रहे थे कि भूमि जो मनुष्य के प्रयत्नों से पैदा नहीं होती और जो उसके जीवन के प्रारम्भिक साधनों मे से एक है, उस पर व्यक्तियों का निरंकुश अधिकार अनुचित है। सिद्धान्त के क्षेत्र में, सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार मानने का विचार हटता गया और उसके स्थान पर उसे सामाजिक वस्तु मानने का विचार आता गया। प्रथम विश्व युद्ध की आवश्यकताओं ने इस विकास मे योग दिया क्योंकि उस समय प्रत्येक राज्य को अपने नागरिकों के सम्पत्तिक अधिकार कम करने पड़े। इटली मे यह नया सिद्धान्त व्यक्त रूप मे राज्य द्वारा मान लिया गया और उसने भूमिपतियों से उस भूमि को छीन लिया जिसका वे स्वयं उपयोग नहीं करते थे। जर्मन जनतन्त्र के नये विधान ने अपनी १५३ वीं धारा मे इस नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसमे कहा गया था: "सम्पति के साथ कर्त्तव्य लगे हुए है। उसका उपभोग सर्व हित के लिए सेवा रूप मे होगा।" धारा १५५ मे भी कहा गया था कि "भूमि का उपयोग और दोहन भूमिपति का समाज के प्रति कर्त्तव्य है।" रूसी क्रान्ति ने तो अपने भूमि-विषयक आदेशो से पुराने विचार का पेंदा ही निकाल डाला। कृषि प्रधान देशों पर इसका बड़ा प्रभाव हुआ और नवीन दृष्टि-कोण व्यापक रूप से मान्य समझा जाने लगा। आर्थिक मन्दी मे हमारे देश के जीर्ण आर्थिक ढाँचे की पोल खुल

गई। मेहनती जनसमुदाय की बढ़ती हुई दरिद्रता एक विकट समस्या बन गई और उससे निष्पक्ष विचारक और अर्थशास्त्री यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य हुए कि भारत की ज़मींदारी-प्रथा संसार की सबसे बड़ी विषमता है। अब भूमि को भाड़े का स्रोत मानने के दिन गये। वह उपयोग के लिए है; अतः उसे कृषि-कर्मियों के परिश्रम को समुचित रूप से उपयोग में लाने का साधन ही मानना चाहिये।

## कृषक वयस्क हो गया है

कृषकों को अपने वर्ग-संघर्षों में नये अनुभव और नवीन राजनैतिक पाठ मिले हैं। उनका एकान्त अस्तित्व समाप्त हो गया है और उनका सम्पर्क उन नवीन विचारों से हो गया है जो अब तक केवल कुछ बौद्धिकों तक ही सीमित थे। भूमि के स्वामित्व के विषय में जो नवीन दृष्टिकोण है वह उनमें घर करता जा रहा है। उनका निश्चित और स्थायी दृष्टिकोण और उनके अपरिवर्तनीय विचार और विश्वास, जो अब तक ग्रामों की प्रमुख विशेषता थे, तेज़ी से विलीन होते जा रहे हैं। उनके विचार करने के ढंगों में क्रांन्तिकारी परिवर्तन हो गया है। उनमें एक नवीन जिज्ञासा उदय हो गई हैं और जिन व्यक्तियों की आज्ञा वे पहले बिना सिर हिलाये मान लेते थे, उनको और अपने वातावरण को वे आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे हैं। उनकी पुरानी उदासी, परम्परागत दब्बूपन, और भाग्य के भरोसे रहने की आदत बदल कर उनमें प्रफुल्लता, आशा और उत्साह की उमंग आती जा रही है। गांवों में एक नवीन जागृति फैल गई है और यदि हम इस अनुकूल स्थिति का उचित उपयोग करें और कृषक-हलचलों को सही दिशा की ओर प्रेरित करें, तो हम उन्हें देश की एक अजेय शक्ति बना सकते हैं। उनमें अनुशासन की भावना भरने की आवश्यकता है, और चूंकि वे सदैव शान्तिप्रिय रहे हैं अतः यह आशा की जा सकती है

कि वे अत्याचार के विरुद्ध अपने अधिकारों और हितों की रक्षा अहिंसात्मक ढंगों से ही करेंगे।

यह असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि हमारे जन समुदाय के दृष्टि-कोण मे यह परिवर्तन और उनकी सामाजिक संकीर्णता की यह समाप्ति ( जो प्रगति की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं ) राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर कभी सम्भव न होते, यदि गम्भीर सामाजिक असन्तोष ने उन्हें अपनी निष्क्रियता छोड़ने और अपने लिए कोई मार्ग निकालने के लिए बाध्य न कर दिया होता। पुरानी आदतें और परम्परा-पावन जीवन-चर्या इतनी सरलता मे नही बदलतीं। ग्राम-विकास की कार्यवाहियो से, चाहे वे कितनी भी प्रशंसनीय हो, स्वतः ही ऐसा परिवर्तन आ जाने की आशा नहीं की जा सकती। यथार्थ मे उनका बड़े पैमाने पर फल तभी हो सकता है जब कृषकों की विचार-संकीर्णता टूट जाय। अज्ञान और अन्धविश्वास मे डूबे हुए अनपढ़ किसान लोग जीवन के अनुभवो से ही सीख सकते हैं। आज राजनैतिक अखाड़े में उनका दबदबा क्रूर आर्थिक और सामाजिक तथ्यों के कारण है। उन्हें ऐतिहासिक आवश्यकता ( historic necessity ) ने ही आगे की ओर धकेला है और यह सर्वविदित है कि भारत-सरकार अपने ग्राम-विकास के कार्यक्रम को कभी भी न बनाती, यदि राजनैतिक रंगमंच पर कृषक-लोग प्रमुख पात्र न बन गये होते। परन्तु सरकार जहाँ एक ओर ग्राम-क्षेत्रों को विकसित करने के प्रयत्नों को प्रोत्साहन देकर, कृषि-कर्मियों के लाभ की योजनाएँ बनाकर और उन्हें तत्काल सहारा देकर कृषको के साथ सहानुभूति दिखा रही थी, वहीं दूसरी ओर वह बड़े जमींदारों को कांग्रेस के विरुद्ध संगठित और सशक्त बना रही थी, जिसमे नवीन व्यवस्था मे वे अपना प्रभुत्व बनाये रखकर विदेशी गवर्नमेंट की स्वार्थपूर्ति के साधन बन सकें।

कांग्रेसी सरकारों ने भी ग्राम-सेवा के निष्काम उद्देश्य से कृषको के

लाभ का कार्यकलाप जारी रक्खा। जो नई लहर चारों ओर फैली हुई थी और जो अगाध विश्वास जनता का उन्हे प्राप्त था, नके कारण उनका कार्य अधिक सरल बन जाता, यदि वे अपना काम वैज्ञानिक ढंग से करतीं। परन्तु उन्हें विशेष सफलता न मिली, क्योंकि इन हितकारी कार्यवाहियों के लिए उनके पास साधन बहुत सीमित थे। अपनी परिमिति को जान लेना बुद्धिमानी की पहली निशानी है, और कॉंग्रेसी सरकारें यदि केवल चुने हुए और भली भाँति पूर्वयोजित कार्य ही अपने हाथों मे लें, तो अच्छा होगा। सबसे बड़ी आवश्यकता कृषकों को ज्ञान का प्रकाश देने की है। इसलिये शिक्षा-कार्य को ग्राम-सुधार की योजनाओं में प्रथम स्थान दिया जाना चाहिये। जनसमुदाय में शिक्षाप्रसार उन्नति का मूलमन्त्र है। ग्रामीणों को सहकारिता की आवश्यकता भी सिखाई जानी चाहिये। यदि उनमें सहकारी भावना भर दी जाय, तो वे सड़कों की मरम्मत कर सकते है, पानी की व्यवस्था और सफ़ाई मे सुधार कर सकते है, संक्रामक रोगों के विरुद्ध बचाव के उपाय कर सकते हैं, और शान्ति और सुव्यवस्था रख सकते है। परन्तु इसके लिए ग्राम समुदायों को ग्रामों मे शासनाधिकार दिये जाने चाहिएँ, और उनके पुराने कर्त्तव्यों मे से कुछेक को पुनर्जीवित किया जाना चाहिये।

## प्रान्तीय स्वायत्त शासन में कृषक-क़ानून

विभिन्न सरकारों द्वारा दरिद्र कृषकों को सहारा पहुंचाने के लिए किये गये उपायों के इस संक्षिप्त विवरण मे यह पता चल जायगा कि ये उपाय स्थिति की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्वत्र पर्याप्त न रहे। वर्तमान ऐक्ट के भीतर बहुत अधिक किया जाना सम्भव है, और सम्भवतः कालान्तर मे बहुत कुछ किया जायगा। परन्तु यह खेदजनक है कि सब प्रकार के देहाती सुधारों मे बिना किसी विशेष कारण के देर

लगाई जा रही थी। काम बहुत धीमे-धीमे हो रहा था और यद्यपि काँग्रेसी सरकारों के पीछे जनता की विराट् शक्ति थी, फिर भी कुछेक प्रान्त निहित स्वार्थों के भय से तेजी से चलने मे हिचक रहे थे। अब तक जमादारों के सामाजिक दर्जे मे कोई उग्र परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल कुछ साधारण सा सहारा कृषकों को दिया गया है, परन्तु उसी पर जमींदारों ने इतना हल्ला मचाया मानो क़ानून मे क्रान्तिकारी आकार-प्रकार के परिवर्तन किए जा रहे थे। आर्थिक स्थिति इतनी निराशापूर्ण थी कि जनसमुदाय को चैन पहुँचाने के लिए उग्र क़दम उठाने की आवश्यकता थी। जो कुछ काँग्रेसी सरकारों ने किया वह केवल कुछ अधिक अन्यायपूर्ण बोझों से कृषकों को मुक्त कर देने तक ही सीमित था; परन्तु उनकी दशा इतनी कष्टपूर्ण है कि बचे हुए बोझ भी उन्हें भारी और असह्य लगेंगे और वे उनसे भी छुटकारा पाने की लगातार जोर से मांग करेंगे। यह निस्सन्देह सत्य है कि कुछ भी हो, कृषक-वर्ग फिर से ज़मीदारों को अपना स्वाभाविक नेता समझने के लिए तैयार नहीं है। ज़मींदारों का राजनैतिक प्रभाव निश्चय ही अस्त होता जा रहा है, चाहे उनका सामाजिक दर्जा मिटाया नहीं गया हो। अब उस प्रभाव को फिर से प्राप्त करना कठिन होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि देहात मे सुधार लागू करने के विरुद्ध उन्होंने जो विरोध का तूफ़ान उठाया है, वह भविष्य के डर के कारण है। वे इस तथ्य का अनुभव करते हैं कि ये वर्तमान उपाय उस नवीन युग का प्रारम्भ-मात्र है जिसमें ग्राम-व्यवस्था में ऐसे लगातार परिवर्तन किये जायँगे कि उनका उच्च सामाजिक दर्जा निश्चय ही पूर्णतः नष्ट हो जायगा।

उनके होश उड़े हुए हैं। परन्तु यह निस्सन्देह है कि यदि आज राजनैतिक सत्ता उनके हाथ मे होती, तो उनको भी जनसमूह के दबाव से बाध्य होकर—बेमन से ही सही—लगभग ऐसे ही क़दम उठाने पड़ते। ग्राम-विकास-कार्य के हथकण्डे जनसमुदाय को धोखा देने मे सफल नहीं हो

सकते थे। और न कृषकों में लड़ाकूपन की उठती हुई लहर को रोकना सम्भव था। उनकी अत्यधिक दरिद्रता पुकार-पुकार कर कुछ करने के लिए कह रही थी और यदि उनके लिए कानून द्वारा कुछ न किया जाता, तो वे ग़ैर कानूनी उपायों का सहारा लेते।

यह मानी हुई बात है कि कांग्रेसी सरकारों के काम में बड़ी कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि वर्तमान ऐक्ट के अनुसार उन्हें कोई क्रांतिकारी सुधार करने की पर्याप्त सुविधा नहीं थी। परन्तु उनसे कम से कम यह आशा अवश्य ही की जाती थी कि वे जन-समुदाय को अधिकाधिक सुख पहुंचाने के लिए कोई वैधानिक उपाय उठा न रक्खेंगी। बड़ी असन्तोषपूर्ण बात तो यह थी कि हमारे बहुत से मन्त्री किसान-संस्थाओं और उनके कार्यकर्त्ताओं की ओर शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। एक किसान कार्यकर्त्ता के शब्दों पर साधारणतः विश्वास नहीं किया जाता था। उसको अजनबी समझा जाता था, और उसका मिलने आना अवांछनीय था। वह भी खेद की बात थी कि कांग्रेसियों द्वारा की गई आलोचना भी हमारे मन्त्रियों को अच्छी नहीं लगती थी। मैत्रीपूर्ण आलोचना भी पसन्द नहीं की जाती थी और कभी-कभी अकारण ही विरोध की परिचायक समझी जाती थी। परन्तु जो सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी है, उसे तो आलोचना से चिढ़ने के स्थान पर उसे आमन्त्रित करना चाहिये। उसे अपना क़दम तभी नहीं उठाना चाहिये जब जनता की मांगे उग्र रूप धारण करलें अथवा जब उन मांगों की प्राप्ति के लिए उसकी ओर से विशिष्ट कार्यवाही किये जाने का अन्देशा हो। हम तो यह चाहते हैं कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल जनता के हृदय में अपना स्थान बनायें। अतः हमारे मन्त्रियों को जनता की माँगों की पूर्ति के लिए अधिक तत्पर रहना चाहिये और उसके अभाव-अभियोगों को उसके विश्वस्त प्रतिनिधियों के द्वारा धैर्य और सहानुभूति से सुनना चाहिए। कृषक आन्दोलन को वक्र दृष्टि से देखना उचित नहीं।

यदि बताई हुई खराबियाँ ठीक कर दी जाँय और भारी विषमताओं को मिटा दिया जाय, तो कृषकों के लिये सीधी कार्यवाही को बचाने के लिए पर्याप्त कानूनी उपाय किये जाने चाहिये। ग्रामों में ऋण का जो प्रश्न है उसका भली भाँति अध्ययन किया जाना चाहिये और यदि उन ऋणों को पूर्णतया समाप्त न किया जा सके तो उनका भार पर्याप्त मात्रा में घटा देना चाहिये। साथ ही कृषकों के लिये पूँजी और सस्ते ऋण की सुविधा जुटाने के ऊपर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। कृषि से उत्पन्न पदार्थों की बिक्री के लिए भी ऐसे समुचित कानून बनाये जाने चाहिये जिनसे बीच के आदमियों का मुनाफा उड़ जाय। सहायक उद्योग धन्धों को बढ़ाने के ऊपर सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाना चाहिये और भूमि को अधिक उपजाऊ और उपयोगी बनाने के उपाय किये जाने चाहिये। सरकार को चाहिये कि वह खेतिहरों को सहायता और प्रोत्साहन दे, और एक सक्रिय कृषक-नीति का अनुसरण करे।

## कृषक-संस्थाओं की आवश्यकता

यह प्रश्न बहुधा पूछा जाता है कि जब काँग्रेस के सदस्यों में अधिकांश कृषक हैं, और जब कांग्रेस ने अपने फैजपुर के कृषक-कार्यक्रम में और कराँची के आर्थिक अधिकार विषयक प्रस्ताव में कृषकों की बहुत सी माँगें सम्मिलित कर ली हैं, तो फिर एक पृथक किसान संस्था की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि काँग्रेस एक बहुवर्गीय राष्ट्रीय संस्था है और उसमें कृषक अपनी आवाज पूरी तरह नहीं उठा सकते। वे अन्य वर्गों के बीच में बँधे बँधे और खोये खोये से रहते हैं और खुलकर अपनी बात नहीं कह पाते। अतः उनकी हिचक दूर करने और उनमें आत्म-निर्भरता पैदा करने के

लिए यह आवश्यक है कि उन्हे अपने ही वर्ग की संस्था में पहिले ट्रेनिग दी जाय।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संस्था होने के कारण कांग्रेस कृषकों की आधारभूत माँगें ही क्या, कोई भी माँगें स्वीकृत करने की स्थिति में नहीं है, जब तक कि वह ऐसा करने के लिए परिस्थितियों से विवश न हो जाय। भारतीय जनता की अतिशय दरिद्रता की ओर प्रारम्भ से ही हमारे जन-नायकों का ध्यान गया है, परन्तु उन्होंने उसे एक राजनीतिक कष्ट के ही रूप में देखा है जिसका मुख्य कारण विदेशियों द्वारा भारत का शोषण है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि वह देश के आर्थिक ढाँचे में ही अन्तर्हित है और उस ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके ही दूर की जा सकती है। अतः किसान-संगठन कांग्रेस पर क्रान्तिकारी दबाव डालने के लिये आवश्यक है जिससे कांग्रेस कृषकों की माँगों को अधिकाधिक मानती चले। गतकाल में ऐसा दबाब डालकर अच्छे परिणाम निकाले जा चुके हैं और आज तो कांग्रेस कृषकों के हितों के लिए लड़ने के लिए वचन बद्ध है। क्योंकि कांग्रेस राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है और हम जानते हैं कि शोषित कृषकों का विशाल समुदाय ही राष्ट्र है। अतः यदि कांग्रेस राष्ट्र का हित करना चाहती है, तो उसे औपनिवेशिक और सामन्तशाही शोषण के आधार को मिटा देने का प्रयत्न करना चाहिये।

क्योंकि काँग्रेस-संगठन विभिन्न प्रान्तों में असमान स्तरों पर पहुँचा है, और क्योंकि बहुत सी काँग्रेस कमेटियां पर जमींदारी तत्वों का नियन्त्रण है, इसलिये अनेक स्थानों में कांग्रेस के प्रस्ताव क्रियान्वित नहीं किये जा सकते और कागज पर ही रखे रह जाते हैं। ऐसे स्थानों में कृषकों को कांग्रेस कमेटियों से वह सहायता नहीं

मिलेगी जो मिलनी चाहिये और उनके अभाव अभियोगों का निराकरण नहीं हो सकेगा। किसान सभा का अस्तित्व ऐसे स्थानों के लिए ही अधिकतर आवश्यक होगा जिससे कृषकों का दिन प्रति दिन का संघर्ष चल सके। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के समय में, कांग्रेस का यह सामान्य कार्यक्रम हो गया था कि वह किसानों से प्रार्थना-पत्र लेकर उनके अभाव अभियोगों को दूर कराने में उनकी सहायता करे, परन्तु ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ किसी कमेटी ने इस विषय में केवल इस कारण से कोई अभिरुचि नहीं दिखाई क्योंकि वह कमेटी जमींदारों के द्वारा नियन्त्रित थी जो कांग्रेस के कार्यक्रम के प्रति सच्चे न थे, और जो अपने स्थान का दुरुपयोग कृषकों के अहित में करते थे। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं जानते कि आज कांग्रेस कमेटियाँ कृषकों की प्रतिदिन की समस्याओं में जो विशेष दिलचस्पी दिखा रही हैं, वह उसी पैमाने पर चलती रहेगी अथवा नहीं।

इन विभिन्न कारणों से किसान को किसान सभाओं में संगठित करना आवश्यक है। और जब कृषकों का संघों के रूप में अपने आपको संगठित करने का अधिकार काँग्रेस ने बारम्बार माना है, तो फिर कांग्रेसियों के किसान संस्थाओं से पृथक रहने पर ज़ोर देना क्या उचित और बुद्धिमत्तापूर्ण है ? यद्यपि कृषक लोग साधारणतः कांग्रेस और किसान सभा में कोई भेद नहीं करते— और इस तथ्य से उस कथन की पुष्टि होती है कि किसान सभा की ओर शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये—परन्तु 'किसान सभा' शब्द उन्हें प्यारा है, और उनके ऊपर जादू का सा असर करता है। इस लिये किसान सभायें तो बनेगी ही। यदि कांग्रेस वाले उन्हें नहीं बनायेंगे, तो और व्यक्ति बनायेंगे जो सम्भवतः कृषक-आन्दोलनों को

गलत मार्ग की ओर ले जायेंगे और या तो एक प्रतिद्वन्द्वी राजनैतिक संस्था बनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को भारी हानि पहुँचायेंगे अथवा कृषक वर्ग के किसी समुदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई साम्प्रदायिक संस्था बनाकर कृषकों में फूट और अव्यवस्था पैदा करेंगे और उनके आन्दोलनों को अशक्त बना देंगे।

## कांग्रेस और किसान-सभाओं के सम्बन्ध

यदि कृषकों की एक पृथक संस्था की आवश्यकता मान ली जाय, तो किसान सभाओं का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे स्थानीय कांग्रेस संगठनों के साथ मित्रता पूर्ण सम्बन्ध रखें और यथासम्भव उनसे मिलकर कार्य करें। कॉंग्रेस कमेटी द्वारा दी गई सहायता विशेषकर वर्तमान समय में, उनके लिए बहुमूल्य ही न होगी, बल्कि कॉंग्रेस को किसान पक्षी बनाने की प्रक्रिया को अधिक गतिशील बना देगी। यह अनुभव की बात है कि जब से कांग्रेस कृषकों की सहायता से सत्तारूढ़ हुई है और जब से उसके ऊपर कृषक-हितों की रखवाली करने का विशेष दायित्व आया है, तब से वह अधिकाधिक कृषक-पक्षी होती गई है। परन्तु यह प्रक्रिया अभी पूर्ण नहीं हुई है और इसके पूर्ण होने में अभी कुछ समय लगेगा। अतः यदि किसी मामले में सहायता माँगने पर भी कॉंग्रेस की ओर से कोई सहायता न मिले, तो किसान सभा के सामने स्वाधीन रूप से कार्य करने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहेगा।

परन्तु कांग्रेस के साथ प्रतिद्वन्दिता करने की कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये। कांग्रेस के ऊपर प्रभुत्व पाने की लालसा को रोकना चाहिये। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों संस्थायें एक दूसरी की पूरक हैं। प्रत्येक को दूसरी की सहायता से शक्ति मिलती

है। यदि हम इन दोनों संस्थाओं के परस्पर पूरक स्वरूप का सतत ध्यान न रक्खेंगे, तो अनेक प्रकार की भारी गलतियाँ हमसे होंगी। किसान सभाओं का संगठन मुख्यतः कृषकों के आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए और उनके दिन प्रति दिन के आर्थिक संघर्षों का संचालन करने के लिए है। परन्तु कृषकों को पीड़ा देने वाले औपनिवेशिक शोषण का अन्त तो पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने पर ही हो सकता है अतः जब तक भारत पराधीन है, तब तक यह आवश्यक है कि कृषक-वर्ग अन्य वर्गों के साथ मिलकर राष्ट्रीय स्वतत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

कांग्रेस-संगठन राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रतीक और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का साधन है। अतः कृषकों को उसे अपना ही समझ कर प्रेम करना चाहिये। उसके प्रति विमाता का सा व्यवहार करने से काम नहीं चलेगा। यदि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन का सामाजिक विस्तार करने के लिए आर्थिक संघर्ष को राजनैतिक संघर्ष से जोड़ना है, तो यह उचित ही है कि इन दोनों संस्थाओं को एक स्थायी सूत्र में बाँध दिया जाय। समय समय पर सन्देह और ईर्ष्या उत्पन्न होकर इनकी एकता को संकट में डाल देते हैं। दोनों ओर के अतिशय उत्साही व्यक्ति एक संकीर्ण संस्थावादी दृष्टिकोण लेकर और अपने परस्पर महत्व को न समझकर कठिनाई उपस्थित कर सकते हैं। प्रत्येक की ओर से चिढ़ाने वाली बातें होंगी जो दोनों में भेद डाल देंगी ; परन्तु यदि हम धैर्य से काम लें और सब मामलों पर शान्तिपूर्धक और ठण्डे दिल से विचार करें तो हम छोटी मोटी अप्रिय बातों को सह लेंगे और उन्हें कठिनाई पैदा नहीं करने देंगे। कांग्रेस भी यह मानकर बुद्धिमत्ता का परिचय देगी कि किसान सभायें जमने के लिए ही बनी हैं अतः उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध जोड़ना और उन्हें

सही दिशा में विकसित करना नीतिज्ञता है। जो संस्था राष्ट्रीय होने का दावा करती है वह कृषकों की किसी भी ऐसी संस्था के विरुद्ध नहीं हो सकती जिसका स्वरूप साम्राज्यवाद-विरोधी हो और कांग्रेस-विरोधी न हो।

यह भी है कि कॉंग्रेस राष्ट्रीय पैमाने पर जन-आन्दोलन किये बिना अपना ध्येय प्राप्त नहीं कर सकती और उसको ऐसे वर्ग चेतना-युक्त सुभट कृषकों की सेवाओं की आवश्यकता होगी जो राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए कितना भी त्याग और बलिदान करने को प्रस्तुत हों।

अतः दोनों संस्थाओं को एक दूसरे का शुभचिन्तक होना चाहिये, और एक दूसरे को अपना पूरक समझना चाहिये।

किसी के इरादे कितने ही अच्छे क्यों न हों, दो संस्थाओं के अस्तित्व से ही कुछ न कुछ खटपट हो सकती है, परन्तु यदि हम उन दोनों को एक दूसरे का पूरक समझें तो हमारे लिए उस खटपट से डरने की कोई बात नहीं है। अतः यह और भी आवश्यक है कि हममें से प्रत्येक कोई भी ऐसा कार्य न करने और बात न कहने का विशेष ध्यान रक्खे जिससे कोई अवांछनीय परिणाम हों। किसी कमेटी विशेष के पदाधिकारियों के विरोधी रवैये के कारण किसान-कार्य कर्त्ताओं को कांग्रेस की ओर से विमुख न हो जाना चाहिये। कुछ थोड़े से व्यक्ति ही कॉंग्रेस नहीं हैं और यदि वे अनुचित व्यवहार करते हैं तो इसी कारण से हमको कॉंग्रेस के विरुद्ध नहीं हो जाना चाहिये। कॉंग्रेस आखिर जनता की संस्था है, उसके साथ जनता का भाग्य बँधा हुआ है, और यदि कुछ व्यक्ति कुछ स्थानों पर उसे अपने अनुरूप कार्य नहीं करने देते तो हमें अपना धैर्य खोकर यह नहीं सोचने लग जाना चाहिये कि कॉंग्रेस हमारी संस्था नहीं है।

हमें परस्पर गाली गलौज करके अथवा जनता से ढपोल संखी वायदे करके अथवा अन्य ओछे तरीकों से एक दूसरे को पछाड़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। कॉंग्रेसी होने की हैसियत से हमें इस बात का ध्यान रखना है कि कॉंग्रेस स्वार्थी अवसरवादियों का अड्डा न बन जाय। इसी प्रकार किसान-नेताओं को भी यह देखना है कि उनकी संस्था में ऐसे जले भुने असन्तुष्ट व्यक्ति न घुस जाँय, जो उसे अपने मतलब गाँठने का साधन बना लें।

कृषक-वर्ग एकरस नहीं है। उसमें अनेक विभाग और विभेद हैं जिनके हित कभी कभी आपस में टकरा जाते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि संस्था कौन से उपवर्ग की हो? यदि सभी उपवर्गों को उसमें स्थान दिया जाय, तो उनके विभिन्न हितों का सामञ्जस्य और समन्वय करके आन्तरिक झगड़ों से बचना चाहिये।

हमारा आज का कार्य सम्पूर्ण कृषक वर्ग को अपने साथ ले लेना है। उपर्युक्त प्रश्न करते समय क्रान्तिवादियों की हैसियत से हम केवल सामाजिक न्याय की भावना में अपने को ही नहीं बहने दे सकते। यदि भावना से प्रेरित होकर ही हम अपने निश्चय और कार्य करते तो हम पहिले खेती के मजदूरों और ग्राम श्रमिकों को सगठित करने की सोचते जो सबसे कधिक पीड़ित और शोषित ग्रामीण वर्ग है और सबसे अधिक निकृष्ट आर्थिक और सामाजिक दासता का शिकार बना हुआ है। न्यायबुद्धि हमें अवश्य सबसे अधिक पीड़ितों के हितों की पहिले रक्षा करने के लिए प्रेरित करती है, परन्तु यदि हम ऐसा करें तो हम उस विशाल शोषित समुदाय की उपेक्षा करेंगे जिसमें छोटे और मध्यम किसान और अल्प आय वाले जमींदार हैं। कृषकों का अधिकांश समुदाय उस अवस्था में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से पृथक रह जायगा और हम अपना

एक ऐसा साथी खो देंगे जो ग्राम के दरिद्र वर्ग से कहीं अधिक मूल्यवान् है ।

एक अन्य दृष्टि से भी ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान अवस्था में ग्रामों के दरिद्र वर्ग का सर्वोत्तम हित साधन सम्पूर्ण कृषक-समुदाय का सामूहिक संचालन करके ही किया जा सकता है, उसे अनेक टुकड़ों में बाँटकर एक दूसरे का कट्टर विरोधी बनाकर नहीं । यदि भूमि-श्रमिक भूमिविहीन है तो इसमें कृषकों का कोई दोष नहीं है । उसकी भूमि प्राप्त करने की लालसा को तो राज्य ही पूरा कर सकता है, और उसकी पूर्ति के लिए राजनैतिक कार्यवाही आवश्यक होगी । औपनिवेशिक शोषण भी जो विदेशी साम्राज्यवाद ने उसके ऊपर भी समान रूप से लागू कर रखा है, राजनैतिक कार्यवाही से ही समाप्त किया जा सकता है, और यह स्पष्ट है कि वह कार्यवाही तब तक सफल नहीं होगी, जब तक सम्पूर्ण कृषक-समुदाय उसमें भाग न ले ।

भूमिश्रमिकों की मजदूरी का प्रश्न तब तक सन्तोषप्रद रूप से हल नहीं किया जा सकता जब तक कृषकों की आय में पर्याप्त वृद्धि न हो । आज तो बेचारे कृषक के लिए अपने छोटे से भूभाग में खेती करके अपना पेट पालन कठिन है । उस छोटे से भूभाग में वह अपने को होम देता है, परन्तु अथक परिश्रम करके भी वह उसमें से साधारण जीवन-निर्वाह की सामग्री भी नहीं जुटा पाता । उसकी मजदूरी देने की सामर्थ्य बहुत ही सीमित है और जब तक वह नहीं बढ़ाई जाती, तब तक उसके लिए यह असम्भव है कि वह अपने उन अधिक अभागे भाइयों को अधिक पारिश्रामिक दे सके जो मजदूरी करके जीवन-यापन करते हैं, और जिनके पास आमदनी का और कोई स्रोत नहीं है । जब कृषकों की दशा सुधर जायगी और भूमि

की उत्पादकता बढ़ जायगी तभी वे अच्छी मजदूरी दे सकेंगे। हाँ, भूमिश्रमिक धनी कृषकों और जमींदारों से अच्छी मजदूरी की माँग कर सकते हैं। परन्तु वर्तमान अवस्था में ग्रामों के इन दरिद्रों को कृषकों के साथ वर्ग तादात्म्य अनुभव करना चाहिये; केवल कृषक-वर्ग के अन्य टुकड़ों के साथ सहयोग करके ही वे अपनी दशा सुधारने की आशा कर सकते हैं। कृषक-आन्दोलन के प्रति उदासीनता अथवा विरोध का भाव रखना उनके लिए हितकर नहीं हो सकता।

## भूमिश्रमिकों की समस्या

यह सच है कि सम्पूर्ण कृषक समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले इस वर्तमान कार्यक्रम में भूमिश्रमिकों की सक्रिय सहायता और सहयोग प्राप्त करने के लिए विशेष कुछ न होगा; और इस कारण से ग्राम-श्रमिक साधारणतः कृषक आन्दोलनों के नेता न होंगे। यह भी सच है कि राजनैतिक परिवर्तन में उनकी अभिरुचि अत्यन्त क्षीण होगी और आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए उन्हें उकसा न सकेगी। परन्तु फिर भी वे अपने अन्तर में यह अनुभव करते हैं कि उन्हें कृषक-समूह के साथ अपना भाग्य जोड़ देना चाहिये उनके कृषक आन्दोलन में भाग लेने से उसके नेताओं को अपने कार्यक्रम में ऐसी बातें सम्मिलित करने को बाध्य होना पड़ेगा जिनको कृषक वर्ग के साधारण हित को चोट पहुँचाये बिना सरलता से अपनाया जा सके। बेगार प्रथा को मिटाने का आन्दोलन स्पष्टतः उनके हित में है। बहुत से भूमि-श्रमिकों के पास जमीन के छोटे २ टुकड़े भी हैं और यदि वे प्रधान काश्तकार (tenants in chief) हों तो उनको नए कानून के अन्तर्गत मौरूसी अधिकार मिल सकता है। किसान सभा धनी कृषकों और जमींदारों से भूमिश्रमिकों

को अच्छी मजदूरी दिलाने के लिए भी आन्दोलन कर सकती है कि बंजर जमीन को उपयोगी बनाया जाय और राज्य की ओर से वहां प्रयोग के रूप मे फार्म खोले जायॅ जिनमें भूमिश्रमिकों को अच्छी मजदूरी देकर काम पर लगाया जाय। इसके अतिरिक्त कृषकों को यह अनुभव करना चाहिए कि यदि हम जमींदारों के शोषण से मुक्त होना चाहते है तो हमें स्वयम् भी ग्रामश्रमिकों के साथ अच्छे सम्बंध रखने चाहिएँ। भूमिहीन किसानों की संख्या सतत बढ़ती जा रही है और यदि आज ये आंतरिक झगड़े बाहर प्रत्यक्ष नहीं हैं तो कालांतर में बढ़कर अवश्य ही हो जायेंगे। कृषक-समुदाय में वर्ग भेद शनैः-शनैः बढ़ता जायगा और यदि हम इसके लिए पहिले से ही उपाय न करें तो भूमिहीन किसान कृषक आन्दोलन के विरोध में खड़े हो सकते हैं। हमारे विरोधी भली भाँति जानते हैं कि कृषकों का समुदाय अविभक्त नहीं है और वे कृषक-आन्दोलन को विच्छिन्न करने के लिए इस तथ्य का खूब उपयोग कर रहे हैं। जमींदार लोग काँग्रेस सरकारों पर भूमिश्रमिकों के हितों को भुला देने का सदैव ताना देते रहे। इस प्रकार वे दलित-वर्गों को काँग्रेस से विमुख करना चाहते थे।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि चूँकि भूमिश्रमिक अधिकतर दलित वर्गों के होते हैं, अतः उनके आर्थिक कष्टों को दूर कराने के लिए उन्हें जातीय आधार पर संगठित करने के प्रयत्न भी किए जा सकते हैं। यदि ऐसे प्रयत्नों से कृषकों और भूमिश्रमिकों में संघर्ष चल पड़ा तो समाज की प्रगति रुक जाना अवश्यम्भावी है। उनसे भूमिश्रमिकों और उनसे मजदूरी कराने वाले कृषकों में वैमनस्य तो होगा ही। हाँ ऐसे स्थानों में जहाँ कृषि कार्य पूँजीवादी आधार पर होता है कृषि-श्रमिकों को ऊँची मजदूरी की माँग करने के लिए संगठित किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिए।

दुर्भाग्य से कृषिकर्मी मजदूर दासता की दोहरी शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। भारत की अनोखी जाति व्यवस्था ने उसे सामाजिक श्रेणी में भी नीचे गिरा रक्खा है। अतः हमें अस्पृश्यता निवारण के समाज-सुधार आन्दोलन का स्वागत करना चाहिए। उससे उसका सामाजिक दर्जा कुछ ऊँचा हो जायगा और उसके भीतर मनुष्य होने का आत्मगौरव जाग जायगा। परन्तु जब तक उसके जीवन की भौतिक अवस्थाओं में तत्काल सुधार नहीं होता तब तक समाज-सुधार आन्दोलन, चाहे वह कितना भी हितकर हो, उसे समाज का एक श्रेष्ठ सदस्य बनाने में विशेष सहायक न होगा।

ये उन कठिनाइयों में से कुछेक हैं जो आन्दोलन के विस्तार के के साथ साथ हमारे मार्ग में आएँगी। अतः एक किसान कार्यक्रम बनाने का प्रश्न भारी महत्व का है यह स्पष्ट है कि हमारा ध्येय संपूर्ण कृषक समूह को साथ लेने का होना चाहिए।

एक और उलझन इस तथ्य से उपस्थित होती है कि प्रान्त-प्रान्त में कृषकों की दशा भिन्न-भिन्न है। देश में कोई एक-सी भूमि-व्यवस्था नहीं है। रैयतवारी प्रान्तों की समस्याएँ जमींदारी प्रान्तों से भिन्न प्रकार की हैं। फिर लगान, पट्टे और राजस्व के विभिन्न प्रकारों से कृषक समस्या और भी पेचीदा बन गई है। अतः अखिल भारतीय संस्था अपनी प्रांतीय शाखाओं को अपने यहाँ की अवस्थाओं के उपयुक्त स्थानीय कार्यक्रम बना लेने की स्वतन्त्रता देकर, अपने कार्यक्रम में केवल अधिक महत्वपूर्ण बातों को ही ले सकती है। जैसे जैसे आन्दोलन बढ़ेगा नई समस्याएं उत्पन्न होंगी और हमें उन पर ध्यान देकर परिवर्तित परिस्थितियों के उपयुक्त अपने कार्यक्रम में सुधार करना पड़ेगा।

यदि हम अपने आन्दोलन को ठीक प्रकार चलाना और बढ़ाना चाहें तो और कुछ कठिनाइयां हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। देश के कुछ भागों मे जहाँ अधिकाँश जमींदारों का धर्म कृपक-समूह के धर्म से भिन्न है किसान संस्थाओं ने साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया है। ऐसी सस्थाओं का उदय मुख्यतः इस कारण से हुआ है क्योंकि प्रान्तीय कांग्रेस कृपक-हितों की नितान्त अवहेलना करती है। अखिल भारतीय किसान संस्था को ऐसे स्थानों पर वास्तविक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर्तमान साम्प्रदायिक तनातनी के कारण कभी कभी दोनों सस्थाओं का मिलकर एक होना तो दूर, परस्पर सहयोग भी असम्भव हो जाता है। यद्यपि साम्प्रदायिकता से ऐसे स्थानों मे कृपक-आन्दोलनों को बल मिला है, परन्तु राष्ट्रीय सघर्ष के दृष्टि-बिंदु से इसको स्वास्थ्यकर नहीं कहा जा सकता। कृपक-आंदोलन का साम्प्रदायिक रूप मे टूट जाना हितकर नहीं है। कृपक संस्थाओं की अनेकता से गडबड और भी बढ़ जायगी। वर्तमान स्थिति का क्रोध अथवा धैर्यहीनता दिखाकर नहीं बदला जा सकता। हमारे कार्यकर्त्ताओं को अथक निस्स्वार्थ कार्य करके कृपकों का विश्वास और सहयोग प्राप्त करना चाहिए। जितना अधिक तादात्म्य वे कृपक समुदाय से स्थापित करेंगे उतनी ही अधिक सफलता उन्हें अपने कार्य मे मिलेगी। परन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए हमें भी एक से धर्म सम्प्रदाय के कार्यकर्ताओ को श्रेणीवद्ध करने का प्रयास करना चाहिए। साम्प्रदायिक कृपक-संस्थाओं को आत्मसात् करने के लिए हमारे कार्यकर्ताओं को उनके नेताओं से बातचीत चलाने का प्रयास भी करना चाहिये। कांग्रेस को भी चाहिए कि वह अपना संकीर्ण दृष्टिकोण त्याग कर प्रांत में कृपक-कार्य की ओर ध्यान दे।

कुछ स्थानों मे कांग्रेस की बागडोर शहर के बोहरों, महाजनों और व्यवसायियों के हाथ मे है। उनके हितों का ग्रामीण समुदाय के हितों से विरोध है। अतः उनसे कृषकों के हितों की रक्षा करने की आशा नहीं की जा सकती। परिणामतः नगरों और गामों की तीव्र प्रतिद्वन्द्विता है और ग्राम-क्षेत्रों मे कांग्रेस का दबदबा बहुत कम है। क्योंकि किसानों की दशा निराशापूर्ण थी अतः उन्हे कांग्रेस से पृथक होकर अपने संघर्ष के लिए अलग संस्था बनानी पड़ी। इस पृष्ठभूमि मे यह स्वाभाविक था कि कांग्रेस और किसान संस्थाओं के बीच कोई मैत्री न हो। सौभाग्य से अभी अभी दोनों के सम्बन्ध काफी सुधर गए है और पहिली कटुता तीव्र गति से विलीन होती जा रही है। कांग्रेस को यह अनुभव कर लेना चाहिए कि किसान संगठनों से द्वेष बढ़ाने से कांग्रेस का प्रभाव नहीं बढ़ता और उसे कृषकों मे मैत्री स्थापित करने और उनके हितों को अपना लेने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब कांग्रेस के स्थानीय नेतृत्व मे परिवर्तन हो और चूँकि कृषक तत्वों का पलड़ा शनैः शनैः ऊपर उठ रहा है, अतः यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य मे कांग्रेस कृषक हितों का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकेगी। हमे यह देखते रहना है कि कहीं ऐसे स्थानों में कृषक-संस्थाये अनिवासपक्षी प्रवृत्तियों की होकर कांग्रेस विरोधी न बन जायें।

## कृषकवाद का खतरा।

एक और खतरा है जिसकी ओर मै यहाँ संकेत करना चाहूंगा। वह खतरा है कृषक बाद का जो सभी प्रश्नों को कृषक वर्ग के संकीर्ण और छोटे दृष्टिकोण से ही देखता है। उसके सिद्धांत इस आदर्श पर आधारित हैं कि आर्थिक विकास में हमारे राज्य के सम्पूर्ण ढाँचे को

अपना विशिष्ट कृषकवर्गीय स्वरूप बनाये रखना आवश्यक होगा। वह ग्रामीण जनतन्त्र में विश्वास करता है अर्थात भूस्वामी के जनतन्त्र में उसका दावा है कि युद्ध-मनोवृत्ति को नष्ट करने और संसार में शाँति रखने के लिए ऐसा शासनतन्त्र अधिक उपयुक्त है। हाँ कृषकवाद श्रमिकों की अवश्य रक्षा करेगा क्योंकि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वह प्रतिनिध्यात्मक प्रकार की सरकार को भी मान लेगा, क्योंकि अनेक वर्ग उसके समर्थक हैं। उसका कार्यक्रम किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, न वह किसी विशेष विचारपद्धति के अनुकूल है, उसके भीतर सभी वर्तमान विचार-पद्धतियों के तत्व विद्यमान हैं। उसका दृष्टिकोण मध्यम किसान का सा है जो कि आधुनिक विचारों से प्रभावित हो चुका है और वह निम्नमध्यवर्गीय अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है। अपने भोंड़े रूप में वह एक प्रकार का संकीर्ण ग्रामीणवाद होगा और कृषकों को सब संभव स्थानों पर ऊँचा चढ़ाने का प्रयत्न करेगा। यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है और एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय देता है जो छोटे कृषक को अत्यधिक महत्व दे सकती है। यहाँ यही मनोवृत्ति कुछ अवस्थाओं मे, किसान सभा को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष का साधन बनाने की सोच सकती है। यह नगर और ग्राम में तीव्र प्रतिद्वन्द्विता भी उत्पन्न कर सकती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो सामाजिक परिवर्तन के उन नियमों से निर्धारित होगा जो भविष्य की सामाजिक अर्थव्यवस्था मे प्रत्येक वर्ग को अपना उचित स्थान देते हैं। वह सामाजिक न्याय के प्रजातन्त्रीय विचार को लेकर चलेगा परन्तु लक्ष्य-प्राप्ति की प्रक्रिया में सामाजिक परिवर्तन के नियमों से अनुशासित होगा। स्टालिन के शब्दों मे, वास्तविक लक्ष्य कृषकवर्ग के प्रमुख समूह को समाजवाद की भावना मे पुनर्दीक्षित करने और शनैः२ कृषक समुदाय को सहकारी समितियों

(co operative societies) के द्वारा समाजवादी निर्माण कार्य की ओर ले जाने का होगा।

## एक कृषक-सम्बन्धी कार्यक्रम।

जैसा पहिले बताया जा चुका है समारा लक्ष्य कृषक वर्ग के प्रमुख समूह को समाजवाद की भावना से पुनर्दीक्षित करने और शनैः शनैः कृषक समुदाय को सहकारी समितियों के द्वारा समाजवादी निर्माण कार्य की ओर ले आने का होगा। इस लक्ष्य के अनुसार हमको एक व्यौरेवार कार्यक्रम बनाना चाहिए। यदि हम कृषक समुदाय को ठीक प्रकार समझायें तो कृषकों को उस कार्यक्रम के अनुसार चलाना भी सम्भव है। स्पष्टतः उनकी समस्या का सही और व्यवहारिक हल स्वतंत्र कृषक वर्ग पर आधारित सहकारी उपज, सहकारी विनिमय और सहकारी उपभोग में है। सब गम्भीर वैज्ञानिक विचारक आज इस बात पर एकमत हैं कि ग्रामों और कृषकों की एकमात्र आशा सहकारिता में है। ग्राम को सहकारी समुदाय के रूप में ही अपने पैरों पर खड़ा किया जा सकता है। और इस सहकारी समुदाय का स्वतंत्र कृषकों के रूप में प्रजातन्त्रीय आधार होना चाहिये। केवल इसी प्रकार कृषक-शक्तियाँ सदियों की दासता से मुक्त हो सकेंगी, कृषि-उत्पादन के पुनर्गठन को बल मिल सकेगा और अच्छे, वैज्ञानिक और सहकारी उपज विनिमय और उपभोग के ढगों के द्वारा ग्रामों में अधिकाधिक उत्पादन को सहायता मिल सकेगी। कृषकों को जब तक यह विश्वास है कि उनकी मेहनत के फलों को अन्त में जमींदार महाजन और अन्य शोषक लोग खा जावेंगे तब तक वे कभी भी अपने खेती करने के ढंगों में सुधार और उत्पादन में वृद्धि नहीं करेंगे। यदि हम ग्रामों में जीवन डालना चाहते हैं तो हमें उन्हे प्रजातन्त्रीय बनाना होगा और

दूसरों के परिश्रम पर मोटे होने वाले सब प्रकार के शोषकों से उन्हें मुक्त करना होगा। ग्रामों की प्रगति में ये जो बाधाएँ और रोड़े हैं उनको हटाकर साफ करना पड़ेगा। अतः जमींदारी का उन्मूलन आवश्यक है। इस मामले में कोई हिचक अथवा दुमुही बात नहीं होनी चाहिये। ग्राम के इसी अभिशाप को सामन्तशाही प्रतिक्रियावाद और ग्राम-उत्पीड़न के इस गढ़ को मिटाने में ढील करना प्रजातन्त्र के प्रति गद्दारी होगी। यदि जमींदारी चलती रही और ग्राम्य जीवन में अपना विष फैला कर मानव सम्बन्धों को बिगाड़ती रही तो ग्रामों में प्रजातन्त्र न तो स्थापित हो सकता है और न चल सकता है। कांग्रेस को दुबारा सत्तारूढ़ होकर उसका निश्चित रूप से तत्काल अन्त करना चाहिये। हमारा इससे तात्पर्य क्या है यह हम स्पष्ट रूप से समझ लें। हमारा तात्पर्य खेतिहर और राज्य के बीच में जितने भी मुनाफाखोर हैं उन सबको समाप्त करने का है। एक प्रकार के जमींदारों को समाप्त करके दूसरों को उनकी जगह मान लेने से कोई लाभ नहीं। जमींदारी के अन्त का मतलब केवल उच्चतम जमींदार को समाप्त करने का न तो हो सकता है और न होना चाहिये।

जमींदार के साथ साथ गाँव के बोहरे महाजन को भी जाना पड़ेगा। वह ग्राम में शोषण और उत्पीडन का दूसरा निमित्त है। जब तक इस विष को दूर नहीं किया जाता तब तक ग्राम्य जीवन साफ हो कर खुली साँस नहीं ले सकता। उसके ऋणों को चुकाने में लोगों को तुरन्त मुक्त किया जाना चाहिए। उसकी शक्ति को दबा देना चाहिए और उसके लिए अपना घृणित रोजगार करना असम्भव हो जाना चाहिए। इस कार्य को सावधानी और सतर्कता से करना पड़ेगा जिससे ऐसा न हो कि ग्राम की इस पीड़क और

अलोकतन्त्रीय ऋण लेने की व्यवस्था को तो हम हटा दें, और उसके स्थान पर तब तक लोकतंत्रीय व्यवस्था स्थापित न कर पायें और ग्राम को सहसा ही पूंजी उधार लेने के सब स्रोतों से हाथ धोना पड़े।

इनके साथ ही ग्रामों को पुलिस के भ्रष्ट जालिम और अन्यायी दरोगाओं और उनके पिट्ठुओं से भी मुक्ति दिलानी चाहिये और उनके स्थान पर कानून और शान्ति के लिए एक लोकतन्त्रीय व्यवस्था होनी चाहिये। गॉव की पंचायत का इस व्यवस्था पर कुछ नियन्त्रण होना चाहिये।

जहॉ तक ग्रामों का प्रश्न है न्याय व्यवस्था भी एक सम्बन्धित समस्या है। सस्ती और लोकतन्त्रीय दीवानी और फौजदारी न्याय व्यवस्था उनके लिए स्थापित होनी चाहिये। कुछ प्रकार के मामलों के लिए तो सस्ते और लोकतन्त्रीय न्याय की आवश्यकता की पूर्ति सुधारी हुई पंचायत व्यवस्था के द्वारा ही की जा सकेगी। न्यायाधीश प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जा सकते हैं अथवा यदि वे ग्राम द्वारा निर्वाचित हों तो न्याय-कार्य में कानूनी विशेषज्ञों द्वारा उन्हें सहायता दी जा सकती है।

यदि हम ग्रामों को सहकारी समुदायों के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं तो यह सब परिवर्तन नितान्त आवश्यक हैं। ग्रामों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का पुनर्गठन करने के लिए किसी न किसी प्रकार का लोकतन्त्रीय ग्राम-शासन आवश्यक है; और यदि हम इस प्रकार के ग्राम-राज्यों की किसी भी रूप में स्थापना करना चाहें तो उपर्युक्त सभी परिवर्तन नितान्त आवश्यक हैं। जब तक जमींदार, महाजन दरोगा और पुलिस अपने वर्तमान रूप में विद्यमान रहेंगे तबतक ग्रामों में गणतंत्र नहीं हो सकता और स्वभावतः तब तक ग्रामों को पुनर्गठित और पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता।

अतः देश को शीघ्र ही इन परिवर्तनों के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये और कॉंग्रेस को हमारे सामाजिक और आर्थिक ढांचे में इन उग्र परिवर्तनों को क्रियान्वित करने के लिए योजनायें बना लेनी चाहिये।

किसान-संस्था का यह कर्त्तव्य होगा कि वह देश के सम्मुख इस कृषक-कार्यक्रम को रक्खे और उसे मनवाने के लिए हलचल मचाये।

परन्तु हमारे लिए अब समय आ गया है कि हम हलचलों के स्तर से ऊपर उठें। किसान संगठन कभी भी शक्तिशाली नहीं था, और पिछले तीन वर्षों में तो वह छिन्न भिन्न हो गया है। हमें अब नया निर्माण करना है। हमें यह देखना है कि नींव पक्की हो। यह कार्य अत्यन्त विशाल है। इसके लिए हमें उपयुक्त नेतृत्व वृहद् कार्य यन्त्र machinery की स्थापना करनी होगी।

हमें कार्यकर्त्ताओं के सैद्धान्तिक शिक्षण के लिए भी प्रबन्ध करना पड़ेगा। साहस और विश्वास तो आवश्यक हैं ही परन्तु जब तक उनका सामञ्जस्य ज्ञान से नहीं होता तब तक प्रयत्न के बराबर फल नहीं मिल सकेगा परन्तु किसान कार्यकर्त्ताओं की सबसे बड़ी सार्थकता ग्राम संगठन में जुट जाने में हैं। इसके लिए प्रत्येक जिले में एक ग्राम समूह को लगकर कार्य करने के लिए चुन लेना चाहिये। चुनने के मामले में यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस क्षेत्र को चुना जाय उसमें राजनीतिक जागृति हो और वहाँ की आबादी विषम-तत्वों से मिलकर न बनी हो। समाजसेवा और रचनात्मक कार्य तो हमारे कार्यकर्त्ता करेंगे ही परन्तु उन्हें इस कार्यक्रम का गतिशील उपयोग करना चाहिये। उन्हें ग्राम के युवकों की शिक्षा की देखभाल करनी चाहिये। इस कार्य के लिए वे शिक्षा-प्रसार आन्दोलन चलाएँगे, और शिक्षा का संचालन और संगठन करेंगे और चलते फिरते

पुस्तकालय खोलेंगे। वे ग्रामयुवकों को स्वयंसेवक दलों में संगठित करेंगे और उन्हें ग्रामों के रक्षा-दलों के रूप में कार्य करना सिखायेंगे वे समाज की ओर भी अनेक उपयोगी सेवायें करेंगे और उसके अनेक छोटे-छोटे अभावों की पूर्ति करेंगे। सबसे अधिक वे कृषकों को समाज-विरोधी तत्वों और शोषण उत्पीड़न की शक्तियों के विरुद्ध लड़ने से लिए संगठित करेंगे।

इस कार्यक्रम को हाथ में लेने का उद्देश्य देहात में ऐसे केन्द्र बनाना है जहाँ से सब ओर प्रकाश फैल सके। संघर्ष के समय में वे पथप्रदर्शकों और सुदृढ़ दुर्गों का काम देंगे।

इस प्रकार का संगठन-कार्य ग्राम-समुदाय में एकता और आत्मविश्वास की भावना पैदा करेगा। वह उनमें नव जीवन का संचार करेगा। वह नीरस कठोरता जो ग्राम-जीवन को ग्रामयुवकों के लिए इतना घृणित और अनाकर्षक बना देती है शनैः शनैः दूर हो जायगी। लोगों को एक ठोस जीवनोद्देश्य मिल जायगा। जो समष्टिजीवन धीरे धीरे बनेगा उससे उन्हें नवीन बल और एकता प्राप्त होगी। इस प्रकार वह केन्द्र एक शक्तिशाली संगठन बन जायगा जो संकट के समय में कार्यवाही के लिए तैयार मिलेगा और सब प्रकार के उत्पीड़न का सामना करने में समर्थ होगा। वह निर्भर करने योग्य और अविचल होगा। साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए इस कार्य का अत्यधिक महत्व है।

यह निस्संदेह सत्य है कि यह कार्य बहुत ही सौम्य प्रकार का है और सम्भवतः साधारण कार्यकर्त्ता जो प्रसिद्धि-प्रेमी होते हैं और चमक दमक में रहना चाहते हैं उसकी ओर आकर्षित न हो सकेंगे परन्तु गम्भीर प्रकार के कार्यकर्त्ता जिनका ध्येय क्रान्तिकारी होगा और जो जानते होंगे कि उसकी प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिये

इस कार्य का समर्थन करेंगे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति इसमें लगा देंगे। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि इस वास्तविक क्रान्तिकारी कार्य-भाग को सचाई से किया गया तो कालान्तर में इसके बड़े ही बहुमूल्य फल मिलेंगे, और इस कार्य में तन मन से जुट जायेंगे वे अपने सहकारियों के प्रेम और आदर के पात्र और किसान आन्दोलन के स्तंभ होंगे।

---

२

# संयुक्त प्रान्त में किसान आन्दोलन

संयुक्त-प्रान्त की जनसंख्या लगभग पाँच करोड़ है। यद्यपि पिछले तीस वर्षों में आबादी भी विशेष नहीं बढ़ी है परन्तु भूमि के ऊपर बहुत भार बढ़ गया है। आज इस सदी के प्रारम्भ समय की अपेक्षा चालीस लाख अधिक व्यक्ति केवल कृषि-कार्य पर निर्भर हैं। साथ ही भूमि से जो आय होती है वह निरन्तर घटती गई है। परिणामतः जनता में बेकारी उत्तरोत्तर बढ़ती गई है और प्रतिवर्ष अधिकाधिक व्यक्तियों को जीवन-निर्वाह के लिए अन्य प्रान्तों अथवा देशों की ओर निष्क्रम करना पड़ता है।

भूमि को छोटे-छोटे खेतों में बाँटना बढ़ता गया है। कृषि कर्म अब आर्थिक दृष्टि से कोई उत्तम कार्य नहीं है। कुछ कृषकों के पास एक तिहाई एकड़ से भी कम भूमि है। ३ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि पर हमारे प्रान्त में हल चलता है और लगभग इतने ही व्यक्ति पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में खेती पर निर्भर हैं। इससे हमारे प्रान्त में प्रति व्यक्ति एक एकड़ भूमि की औसत निकलती है।

पिछले तीन वर्षों में मालगुजारी काफी बढ़ गई है। परन्तु लगान उससे भी अधिक बढ़ गये हैं—जैसा कि सन् १६३१ की सरकारी रैवेन्यू रिपोर्ट में दिखाया गया था कि जहाँ मालगुजारी में ७५ लाख

रुपये बढ़े हैं वहाँ लगान में बढ़े हैं ६ करोड़ ६५ लाख। उत्पादन की कीमत भी बढ़ती गई है। बस कृषक बेचारे को जो भाग मिलना है वही लगातार घट रहा है।

इन कारणों से और अन्यों से भी कृषकों की गरीबी बढ़ रही है और उसके साथ उनके ऊपर कर्ज-भार भी बढ़ रहा है। सन १६२६ में संयुक्तप्रान्तीय लेन-देन अन्वेषण समिति ने कृषिकर्मियों के ऊपर १२४ करोड़ रुपये के ऋण का अनुमान लगाया था। इन १२४ करोड़ों में से जमींदारों का ऋण भाग २० करोड़ था। सन १६२६ के पश्चात् के मन्दी के समय से कृषकों की कर्जदारी बहुत अधिक बढ़ गई है।

चालीस प्रतिशत कृषकों और छोटे जमींदारों के लिए तो यह ऋण भार इतना कठिन रहा है कि आज वे साहूकारों के दासों से अधिक कुछ नहीं है। उनके सब प्रयत्नों के बावजूद उनके उऋण हो जाने की कोई आशा नहीं है। सरकार ने स्थिति को सुधारने के लिए जो छोटे मोटे उपाय प्रयुक्त किये हैं उनसे वास्तविक कृषिकर्मियों की अपेक्षा जमीदारों को अधिक सहायता मिली है। उन सब उपायों से उन कृषकों को कोई त्राण नहीं मिल सकता जिनके जमींदार ही साहूकार भी हैं। वे जमींदार सैकड़ों हथकण्डों से अपना रुपया वसूल कर सकते हैं। दूसरा परिणाम इन उपायों का यह हुआ है कि कृषकों के लिए उधार लेने की सुविधा कम हो गई है। नये प्रतिबन्धों के कारण साहूकार लोग गावों में रुपया उधार देने के लिय तैयार नहीं हैं। और कृषक बिना उधार लिए अपना काम कैसे करें। जब तक राज्य स्वयं कृषकों के लिए सस्ते ऋण की सुविधायें न जुटा दे, तब तक ऐसे प्रतिबन्धात्मक उपायों से कृषिकर्मियों का कोई ठोस हित नहीं

हो सकता। सहकारी समितियाँ (Co-operative Societies) हमारे प्रान्त में पूर्णतः असफल रहीं हैं।

हमारे प्रान्त में लगान-नियम विशेषकर अवध में बहुत ही उत्पीडक है। कृषिकर्मियों से बहुधा दाब-धोंस की लागे और बेगार ली जाती हैं। उनके असहाय सिरों पर सदैव बेदखली का भूत मॅडराता रहता है। हाल की मन्दी ने उनके लिए कठिनाइयों की नई फसल तैयार कर दी है। मालगुजारी की कमी को भी जमींदारों ने कृषकों तक नहीं पहुँचाया है। बहुत से किसान लगान देने में असमर्थ होते हुए भी लगान देकर बेदखली से बचने के लिए ऋण लेने को बाध्य हुए है।

सन १९२०-२१ में घोर संघर्ष के पश्चात किसान लोग अपनी माँगों में से एक को मनवाने में सफल हुए थे। पहिले कोई भी आसामी सात साल के पश्चात स्थायी काश्तकार नहीं हो सकता था उस समय की समाप्ति पर जमींदार की इच्छा से किसी भी किसान को बेदखल किया जा सकता था। परन्तु बेदखली के कड़े विरोध के कारण सरकार ने तत्सम्बन्धित नियमों में कुछ संशोधन किये। काश्तकारी का हक जीवन भर के लिए मान लिया गया। परन्तु यद्यपि इस संशोधन से किसानों के कतिपय अधिकार मान लिये गये, लेकिन अन्य संशोधनों से जमीदारों के लिए कृषकों को बेदखल करने के नये रास्ते खुल गये।

इन कानूनों से—चाहे ये कैसे भी सीमित हैं—किसानों को लाभ तो हुआ है परन्तु बेदखली का शैतान अभी परास्त नहीं हुआ है। आज का कृषक-नारा है "बेदखली समाप्त करो और मौरूसी अधिकार दो" किसान लोग लगान में कमी करने की भी माँग करते हैं। आर्थिक मन्दी की कृपा से उनका व्यवसाय लाभ-प्रद नहीं रहा है अधूरे

उपायों से उनकी दशा नहीं सुधारी जा सकती। ग्राम पुनर्गठन का कार्यक्रम पूर्णतः असफल हो चुका है। गवर्नमेन्ट ने जितना रुपया उसके लिए रक्खा था उसमें से एक बड़ा भाग कार्यालय व्यय इत्यादि में ही उड़ गया। जो कार्य किया गया उसमें से अधिकांश केवल दिखावा करने और निरीक्षक अफसरों को प्रसन्न करने के लिए ही हुआ है कोई भी व्यक्ति उसमें आवश्यक उत्साह का परिचय नहीं दे रहा है। भविष्य में इतने रुपये की मंजूरी भी नहीं होती रह सकेगी। यथार्थ में ये कार्यक्रम बहुधा थोथी तड़क भड़क के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। उनसे किसानों के कष्टदायक भारों में से एक भी हलका नहीं हो सकता। अच्छे बिजार रक्खो और दूध पियो के नारे कोरी लफ्फाजी में अधिक कुछ नहीं है। इन कार्यक्रमों से किसान की मूलभूत माँगों का तो कहना ही क्या उनकी तात्कालिक माँगों में से भी किसी का हल नहीं होता। ग्राम पुनर्गठन कार्य का केवल एक परिणाम यह हुआ है कि सरकार को ऐसे कार्यकर्त्ताओं का एक समूह मिल गया है जो ग्राम ग्राम में सरकारी प्रचार करते फिरते हैं।

इन कठिन समस्याओं में हमारे किसान और छोटे जमींदार अपना बचाव कैसे करें ? छोटे जमींदारों की दशा भी सन्तोषप्रद नहीं है। ८६ प्रतिशत से भी अधिक जमींदार सौ रुपये प्रतिवर्ष से कम मालगुजारी देते हैं और ५६ प्रतिशत २४ रुपये प्रतिवर्ष से भी कम २०३ जमींदार बीस हजार रुपये सालाना से अधिक देते हैं और लगभग ६००० जमींदार ५००० रुपये से अधिक देते हैं। छोटे और बड़े जमींदारों की कुल संख्या हमारे प्रान्त में १ लाख ६० हजार है। इनमें से ८३ प्रतिशत किसान-संघर्षों में भाग ले सकते हैं। किसानों और छोटे जमींदारों को संगठित होकर शक्तिशाली संस्थायें बनानी चाहियें। जब बड़े जमींदार अपने को संगठित कर रहे हैं तो कोई

कारण नहीं है कि कृषक भी वैसा ही न करें। छोटे ज़मींदारों का हित बड़ों के साथ मिलने में नहीं है। वे तो केवल नाम के जमींदार हैं और उनमें से बहुत सों के पास तो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लायक भी जमीन नहीं है। उनकी जमींदारियाँ इतनी इतनी छोटी हैं कि उनसे उन्हें जो लाभ होता है वह नगण्य है। वे भी कर्जदारी के दलदल में बुरी तरह फँसे हुए हैं।

सन् १६१८ में इलाहाबाद जिले में एक किसान सभा की स्थापना हुई। उस समय सम्पूर्ण एशिया में भारी अशान्ति थी। युद्ध विजय करने के लिए मित्र-राष्ट्र स्व-निर्णय (self-determination) के सिद्धान्त के प्रतिपादन ने पीड़ित राष्ट्रों में अभूतपूर्व उत्साह जाग्रत कर दिया था। उनकी आशायें बढ़ी हुई थीं। सेना और मजदूर दस्तों के लिए हजारों ग्रामीण भर्ती किये जा चुके थे। युद्ध में भाग लेने से उनकी मानसिक परिधि बहुत अधिक विस्तृत हो गई थी। उनमें राजनीतिक चेतनता भी उत्पन्न हो गई थी। युद्ध के पश्चात् कीमतें बढ़ीं और कृषक लोग काफी सम्पन्न होगये। राज्यनियमों के अनुसार जमींदार लगान को रुपये में एक आने के हिसाब से सात वर्षों में एक बार बढ़ा सकते थे। अतः जमींदारों ने बेदखली के कानूनों की शरण ली और धड़ाधड़ कृषक-समूहों को बेदखल करने लगे। अधिक लगान पर भूमि फिर उठाई गई और नज़राने के रूप में बड़ी बड़ी रकमें ली गईं। इस प्रकार बहुत से किसान बेदखल हो गये और अधिकांश को जमींदारों की बढ़ी हुई माँगों की पूर्ति करने के लिए भारी ब्याज दरों पर महाजनों से ऋण लेना पड़ा।

नजराने की माँग से किसानों में बड़ा रोष फैला। इलाहाबाद की किसान सभा ने किसानों को संगठित करने का बीड़ा उठाया। श्रीधर बलवन्त जोधपुर के जो आगे चलकर बाबा रामचन्द्र के नाम

से विख्यात हुए उस समय जौनपुर जिले में टिके हुए थे और वहाँ से प्रतापगढ़ परगने के किसानों में प्रचार कर रहे थे। सन् १९२० में किसान सभाओं की हलचलें तेजी के बढ़ने लगीं। कृषकों की माँगें ये थीं— १) बेदखली पर रोक (२) बेगारबन्दी (४) जुर्मानों की रोक थाम ४) घोंस की रकमों की बन्दी। किसानों को शपथ लेनी पड़ी कि वे शान्त रहेंगे घोंस न देंगे बेगार न करेंगे अपनी पैदावार को बाजार-भाव पर बेचेंगे नज़राना न देंगे चाहे बेदखल होना पड़े बेदखल खेत को नहीं लेंगे और जब तक बेदखली के कानूनों को रद न किया जायगा तब तक चैन न लेंगे। प्रत्येक किसान को ऐसी चौदह शपथें लेनी पड़ी।

प्रतापगढ़ से किसान आन्दोलन रायबरेली जिले की दक्षिणी तहसीलों में फैल गया। सन् १९२१ में वह अपने पूरे ज़ोर पर था। हजारों ही व्यक्ति सभाओं में एकत्रित होते थे। किसान आन्दोलन सामुदायिक भेदभावों से बिलकुल रहित था हिन्दू मुसलमान स्त्री पुरुष सब उसमें सम्मिलित थे। उस कृषक जागृति से गवर्नमेन्ट और तालुकेदार डर गये। ७ जनवरी सन् १९२१ को मुन्शीगंज में गोली चली और बहुत से किसान घायल हुए। रायबरेली में गोली चलाने से कृषक आन्दोलन कुछ हद तक दब गया। परन्तु तब तक तो आन्दोलन अवध के बहुत से जिलों में फैल चुका था। किसानों के शक्तिशाली संगठन ने अवध के राजकर्मचारियों को लगान-कानून पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। नोटिस द्वारा बेदखलियों की समाप्ति करदी गई। नये कानून से किसानों को जीवन-भर का काश्तकारी का हक मिल गया। उस समय असहयोग आन्दोलन अपने पूरे ज़ोर पर था। सरकार किसान आन्दोलन का उससे योग होने देना नहीं चाहती थी। इसलिये भी उसने किसानों

की माँगों की ओर अधिक सहानुभूति दिखलाई । किसानों का मुख्य अभाव-अभियोग बेदखली के विषय में था। जैसे ही उस माँग की भी पूर्ति हो गई उनका असहयोग आन्दोलन के प्रति जोश ठण्डा पड़ गया। कांग्रेस अपने संघर्ष में किसानों का सहयोग तो अवश्य चाहती थी परन्तु वह उस समय कृषकों की आर्थिक माँगों के लिए लड़ने को तैयार न थी। कालान्तर में असहयोग आन्दोलन स्वयं ठण्डा पड़ गया। सन् १९२१ के अन्त में किसान आन्दोलन "एका आन्दोलन" के रूप में हरदोई, खीरी, सीतापुर और लखनऊ के जिलों में फिर चल पड़ा। यह आन्दोलन तालुकेदारों और सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध था। इन जिलों में तालुकेदार अपने कानूनी हक से अधिक उघाई कर रहे थे और इससे किसानों में व्यापक अशान्ति फैल गई थी। यदि किसी किसान-कार्यकर्त्ता के पकड़े जाने की नौबत आती थी तो किसान भारी संख्या में इकट्ठे होकर उसके छुड़ाने का उपक्रम कर लेते थे। ऐसी थी उनकी मनःस्थिति। उन्होंने बँधे हुए लगान से अधिक देने से इन्कार कर दिया। अनेक स्थानों पर जमीदारों के कारिन्दों से उनकी झड़पें भी हुईं।

एका सभायें दो प्रकार थीं—एक प्रकार की तो केवल आर्थिक प्रश्नों को लेकर चली थीं और दूसरे प्रकार की राजनैतिक कार्यक्रम को भी लिए हुए थीं। उनकी बैठकों में अदालतों के बहिष्कार स्वराज्य और स्वदेशी से सम्बन्धित प्रस्ताव वादविवाद के उपरान्त पास किये जाते थे। रायबरेली के तत्कालीन डिप्टी कलक्टर पंडित जनार्दन जोशी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि जमींदार अपने आसामियों से अधिक उघाई करते हैं। उदाहरण के लिए एक जमीदार ने जो ७७ हजार रुपये पाने का अधिकारी था ९ हजार पाँच सौ रुपये उनके अतिरिक्त और वसूल किये। इसी प्रकार एक

अन्य जमींदार साहब ३२००० रुपये के स्थान पर ४५०४० रुपये लगान में वसूल करते थे। श्री जोशी ने स्वयं कहा था कि यदि किसान इस सड़ी हुई व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करें तो इसमें आश्चर्य क्या है। श्री कलसर आई० सी० एस० ने एक और उदाहरण बतलाया जिसमें जमींदार ने १७०० के स्थान पर ५७०० वसूल किये। किसानों के और भी अभाव-अभियोग थे। सब स्थानों पर किसानों की पंचायतें बन गई थीं और बहुधा किसानों की राज्य व्यवस्था से टक्कर हो जाती थी।

गवर्नमेण्ट ने किसान-आन्दोलन को दबाने का भरसक प्रयत्न किया और बढ़ते हुए दमन-चक्र के कारण शनैः शनैः उसका बल टूट गया। सन् १९३२ में कांग्रेस ने लगानबन्दी का संघर्ष छेड़ा। यह संघर्ष इलाहाबाद और रायबरेली के जिलों में काफी शक्तिसम्पन्न था—अन्य स्थानों पर उसको बल न मिल सका। सन् १९३३ में इलाहाबाद में केन्द्रीय किसान संघ की स्थापना हुई। लगभग चार जिलों में उसकी शाखायें खोली जा चुकी हैं। परन्तु अभी तक संगठित कार्य आरम्भ नहीं हो पाया है। अन्य प्रान्तों में भी किसान क्षुब्ध हैं विहार में एक शक्तिशाली किसान संस्था मौजूद है। अखिल भारतीय किसान सभा की भी स्थापना हो चुकी है। अप्रैल सन् १९३६ में उसका प्रारम्भिक अधिवेशन लखनऊ में हो चुका है। यह अत्यन्त आवश्यक और वांछनीय है कि कांग्रेस कार्यकर्त्ता जिले में किसानों को उनकी आर्थिक माँगों के आधार पर किसान संघों के रूप में संगठित करें।

———

: ३ :

# गुजरात कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन में सभापति पद से दिया गया अभिभाषण (१९३५)

# गुजरात कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन में सभापतिपद से दिया गया अभिभाषण (१६३५)

साथियो,

अपने प्रान्तीय सम्मेलन का सभापति चुनकर आपने जो मेरा सम्मान किया है उसका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। यह मैं केवल शिष्टाचार-वश नहीं कहता क्योंकि मैं अपनी कमियों को खूब समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपकी स्थानीय समस्याओं का मुझे पर्याप्त ज्ञान नहीं है अतः बहुत से स्थानीय प्रश्नों पर विचार के समय मैं विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सकूँगा। सच तो यह है कि इस सम्मान को स्वीकृत करने से पहिले बहुत समय तक मैं द्विविधा में पड़ा रहा। अन्त में आपके भारी स्नेह ने मुझे प्रेरणा दी और मैं यथाशक्ति आपकी सेवा करने के लिए यहाँ उपस्थित हूँ।

मुझे आशा है कि आपके सहयोग से मैं सम्मेलन का कार्य इस प्रकार संचालित कर सकूँगा जिससे मुख्य और महत्वपूर्ण प्रश्नों पर पार्टी की सम्मति स्पष्ट प्रकट हो सके और आपके प्रान्त की परिस्थितियों के उपयुक्त स्थानीय कार्यक्रम बनाया जा सके। मुझे यह भी आशा है कि हम अपनी समस्त कार्यवाही कर्मठों की भाँति

करेंगे और इस प्रकार उन आलोचकों को ललकारपूर्ण उत्तर दे सकेंगे जो कहते हैं कि हम केवल लम्बी लम्बी थोथी बातें करते हैं। काम-काज की कभी नहीं सोचते।

साथियो, कांग्रेस समाजवादी पार्टी पर प्रारम्भ से ही दायें-बायें सब ओर से प्रहार और आक्षेप होते रहे हैं। इन आक्षेपों में कुछ तो बिलकुल बच्चों के से हैं कुछ पार्टी के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के मिथ्याज्ञान अथवा अनभिज्ञता पर आधारित हैं, कुछ केवल हमें बदनाम करने के लिए किये गए हैं और कुछ ऐसे हैं जिनपर हमें ध्यान देना चाहिए। इनमें से भी कुछ तो केवल खण्डनात्मक हैं और कुछ काम के हैं। हमें विशेषकर इन रचनात्मक आक्षेपों की ओर ध्यान देना चाहिए। यह मैं एकदम कह दूँ कि हम आत्म समालोचना की नीति में विश्वास करते हैं और जैसे ही हमें अपनी कोई भूल विदित होगी हम सदैव उसे सुधारने के लिए प्रस्तुत रहेंगे। वैसे तो अपनी भूल के कारण संकट में फँस जाने पर भी हम उसे बदलती हुई वस्तु-स्थिति का सरल बहाना बनाकर छिपा सकते हैं परन्तु यह नीति त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है और हम इसमें विश्वास नहीं करते। हम तो सब खरी आलोचनाओं का स्वागत करते हैं क्योंकि उनसे हमें आत्म-निरीक्षण का अवसर मिलता है। यहाँ मैं उनमें से कुछ का उत्तर देने का प्रयास करूँगा और ऐसा करने में स्वतः ही पार्टी की स्थिति भी स्पष्ट हो जायगी।

वामपक्षियों का एक निकम्मा आक्षेप यह है कि समाजवादी पार्टी का निर्माण कांग्रेस के मध्यवर्ग का एक षड्यन्त्र है। इस मध्यवर्ग ने जनता की आँखों में धूल झोंकने और उसमें फूट डालने के लिए अपने आपको दो दलों में विभक्त कर लिया है। असली बात यह है कि हमारे कारण उन बेचारों की पूछ नहीं होती। इसलिए

वे इस प्रकार की अनर्गल बातें करते रहते हैं जिनको कोई नितान्त नासमझ ही सोच सकता है। मैं इस प्रकार के अन्य आक्षेपों पर विचार नहीं करूँगा क्योंकि वे इतने हास्यास्पद हैं कि उन पर ध्यान देना आवश्यक नहीं। इस एक उदाहरण को सामने रखने में मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि हमारे आलोचक किस उपहासपूर्ण हद तक जा सकते हैं।

## कांग्रेसियों का आक्षेप

दक्षिणपक्षियों की ओर से आने वाले आक्षेप प्रायः दो प्रकार के हैं। एक आक्षेप तो यह है कि कांग्रेस के समाजवादी पहिले अन्तर्राष्ट्रीय हैं और पीछे राष्ट्रीय। स्वतंत्रता संग्राम में उनके ऊपर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि हम समाजवाद के लिए अपने देश की स्वतंत्रता का बलिदान भी कर सकते हैं। मैं इस संशय का निवारण ज़ोर से कहकर एक दम कर दूँ कि समाजवाद और स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं है। सत्य यह है कि समाजवाद की स्थापना सत्ता प्राप्ति के बिना नहीं हो सकती और भारत की वर्तमान स्थिति में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष समाजवाद की ही भूमिका है। हमारे भीतर राष्ट्रीय भावना और आत्मसम्मान की भी कमी नहीं है। हाँ हम देशाभिमान में चूर होना पसन्द नहीं करते और झूठ सच का ध्यान न रखकर सदैव देश का पक्ष लेने में भी विश्वास नहीं करते न हम अन्य राष्ट्रों को उनकी पैत्रिक निधि से वंचित करना चाहते हैं। बल्कि हम तो उनका सहयोग प्राप्त करके एक ऐसे विश्व-समाज की रचना करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य स्वाधीन रूप से सम्मिलित हों और जो शोषण और उत्पीडन से रहित हो।

सम्भवतः कुछ क्षेत्रों में यह सन्देह होने लगे कि मैं समाजवादी

दृष्टिकोण की ठीक व्याख्या नहीं कर रहा हूं। इसलिए अपने कथन की पुष्टि करने के लिए मैं लेनिन की रचनाओं में से एक अवतरण देना चाहूंगा। क्या वृहत्तर रूस की वर्ग-चेतनामयी जनता राष्ट्रीय-गौरव की भावना से रहित है? बिलकुल नहीं। हम अपने देश और भाषा से प्रेम करते हैं हममें राष्ट्रीय स्वाभिमान कूट कूट कर भरा हुआ है और इसी कारण से हम अपनी पिछली दासता से घृणा करते हैं और अपनी वर्तमान दासता से भी। जो राष्ट्र अन्यों को सताता है वह स्वयं भी स्वतंत्र नहीं हो सकता—यह उन्नीसवीं सदी में जनतन्त्र के महान प्रतिनिधि मार्क्स और एन्जिल्स की शिक्षा थी जिसका अनुसरण क्रान्तिकारी जनसमुदाय करता है। वृहत्तर रूस के हम श्रमिक अपने देश को स्वतंत्र स्वाधीन जनतंत्रात्मक और महान देखना चाहते हैं और अपने पड़ौसी राष्ट्रों से उसके सम्बन्ध समानता के मानवीय सिद्धान्त से प्रेरित देखना चाहते हैं विशेषाधिकारों के दासतापूर्ण और अपमानजनक सिद्धान्त से प्रेरित नहीं।

सम्भवत मार्क्स के इस कथन से कि श्रमिकों का कोई अपना देश नहीं होता कुछ भ्रान्ति फैली है। परन्तु मार्क्स का तात्पर्य श्रमिकों को केवल यह बताना है कि वे अपने देश में ही पराये और बहिष्कृत समझे जाते हैं और जीवन की सुख सुविधाओं से उन्हें वंचित रखा जाता है। यह मार्क्स ने इसलिए किया है जिससे श्रमिक लोग अपने लिए सत्ता प्राप्त करने की आवश्यकता को समझें।

दूसरा आक्षेप यह है कि वर्ग-संघर्ष के प्रश्न को छोड़कर हम स्वतंत्रता के आन्दोलन को छिन्न भिन्न कर रहे हैं। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में बिना श्रमिकों और कृषकों को अपने साथ लिए स्वतंत्रता मिलना असम्भव है। दुर्भाग्य से कांग्रेस ने जनता के पास सही मार्ग से पहुँचने के प्रश्न पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। हम

कांग्रेस पर जानबूझकर इस प्रश्न की अवहेलना करने का आरोप नहीं लगाते। उल्टे हम तो समझते हैं कि कांग्रेस ही एक राजनैतिक संस्था है जिसने जन-समुदाय से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसका तरीका ठीक नहीं रहा और इसीलिये उसके प्रयत्न उतने फलदायक नहीं हुए जितने होने चाहिये थे। वर्तमान समय में कांग्रेस की नीति में भारी परिवर्तन की आवश्यकता है। जनता को राजनैतिक क्षेत्र में लाने के लिए उससे आर्थिक धरातल पर बातें करनी होंगी और उसके पहिले कि उसका उपयोग साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में किया जा सके उसे वर्गों के रूप में संगठित करना होगा। हम देखते हैं कि विदेशी साम्राज्यवाद ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों राजा-महाराजाओं जमींदारों और पूँजीपतियों से एका कर लिया है। इसलिए हमारे लिए अब और भी आवश्यक हो गया है कि हम इस नवीन गुट के विरुद्ध देश के समस्त अग्रगामी तत्वों को संगृहीत करें और निम्नमध्यवर्ग श्रमिकों और कृषकों का एक संयुक्त मोर्चा बनावें। भारत में पूँजीवादी वर्ग मध्यवर्गीय जन-तन्त्रात्मक क्रान्ति का नेतृत्व करने में असमर्थ है। उसकी सामाजिक परिधि बहुत सीमित है और इसलिए वह अकेला कुछ नहीं कर सकता। फिर भारत की सामन्तशाही ग्रामीण अर्थ व्यवस्था अपना प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों पर डालती है। पूँजीवाद इसलिये भूमिपतियों से मिला हुआ है और उससे सामन्तशाही को नष्ट करने की आशा नहीं जा सकती। अतः भारत में शोषित वर्ग को वह कार्य भी करना पड़ेगा जो पश्चिम में मध्यवर्ग ने सम्पादित कर लिया था।

भारत में भूमिपति ब्रिटिश शासन के बनाये हुए हैं और ये स्वभावतः साम्राज्यवाद का सहारा टटोलते हैं। उनका सभी वर्ग—

कुछ व्यक्तियों को छोड़कर--राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रहा है और जैसे जैसे वर्ग-संघर्ष बढ़ेगा वे अधिकाधिक विरोधी पक्ष की ओर चलते जायेंगे। यह साफ दिखाई दे रहा है कि भविष्य में स्वातंत्र्य-आन्दोलन को चलाने का मुख्य भार श्रमिकों कृषकों और निम्न-मध्यवर्ग के कन्धों पर पड़ेगा।

देश की शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर गहरा दृष्टिपात करने से पता लगेगा कि कांग्रेस का वर्तमान कार्यक्रम कितना अपूर्ण है। यथार्थ में उसमें आमूल परिवर्तन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। हमें चीन की राष्ट्रीय संस्था कोमिन्तांग के पूर्व इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिये। अपने १९२४ के पुनर्गठन सम्मेलन मे उसने कृपकों और श्रमिकों की ओर भविष्य मे विशेष ध्यान देने का निर्णय किया था। वह निर्णय शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत किया गया और श्रमिकों और कृपकों के हितों की देखभाल के लिए विशेष विभाग खोले गये। प्रत्येक ग्राम और जनपद मे कृपकों के संघ बनाये गये और बड़े भूमिपतियों और बोहरों को उनकी सदस्यता मे बिलकुल अलग रक्खा गया। इन संघों के द्वारा भूमिपतियों के आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व के विरुद्ध कृपको के आन्दोलन को संगठित किया गया। वह आन्दोलन आग के समान फैल गया और केवल तीन साल में एक अकेले प्रान्त में सदस्य संख्या लाखों तक पहुँच गई। चीनी मजदूर भी ट्रेडयूनियनों के रूप में सगठित किये गये और उनके भीतर जो कार्य किया गया उसके फलस्वरूप वे शीघ्र ही एक बड़ी राजनैतिक शक्ति बन गये।

यह कुमिन्तांग के इस नये कार्यक्रम का ही फल था कि १९२६-२७ की क्रान्ति में उसे ऐसी कमाल की सफलता मिली। यदि उसका नेतृत्व पलटकर क्रान्ति विरोधी न हो गया होता तो चीन आज एक

शक्तिशाली स्वतंत्र देश होता और जापानी साम्राज्यवाद की धमकियां उसके लिए उपेक्षा की वस्तु होती।

यह सोचकर खेद होता है कि कांग्रेस ने लगातार कारखानों के मजदूरों की उपेक्षा की है जिससे वे उससे विमुख हो गये हैं। आजकल संगठित श्रमिक संघों में कांग्रेस के प्रति उपेक्षा ही नहीं अपितु स्पष्ट दुर्भावना पाई जाती है। परिणामतः कांग्रेस आज इस अवस्था में नहीं है कि अपनी सहायता के लिए मजदूरों की राजनीतिक हड़तालें करा सके। देश में मजदूरों की शक्तिशाली हड़तालें हुई हैं परन्तु वे अधिकतर आर्थिक प्रकार की ही हुई हैं। श्रमिकों का आर्थिक आन्दोलन अभी राजनैतिक नहीं बन पाया है। यही कारण है कि राजनैतिक दृष्टि से श्रमिकवर्ग अभी इतना हल्का और शक्तिहीन है। यह मैं अपनी दृष्टि से वर्तमान स्थिति का दिग्दर्शन करा रहा हूं। मैं क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में श्रमिकों के महत्व को कम नहीं समझता और न मैं इससे इंकार करता हूँ कि यदि ठीक ढँग से काम लिया जाय तो वे सहज ही एक महान् राजनैतिक शक्ति बन सकते हैं और राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपना नेतृत्व स्थापित कर सकते हैं। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यह केवल इसी तरह हो सकता है कि श्रमिक लोग कांग्रेस द्वारा संचालित साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में भाग लें। रूस के विपरीत भारत में हड़तालों का श्रमिक अस्त्र अभी तक व्यापक कार्यवाही का संकेतक नहीं रहा है परन्तु श्रमिकवर्ग अपना राजनैतिक प्रभाव तभी बढ़ा सकता है जब वह राष्ट्रीय संघर्ष के लिए हड़तालें करके निम्नमध्यवर्ग को उनके क्रान्तिकारी स्वरूप से प्रभावित कर सके। कांग्रेस पर कोई कितने ही आक्षेप और लांछन लगाये यह मानना पड़ेगा कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का एक मात्र विशाल स्थल है वहीं से किसी ऐसे संघर्ष को संचालित किया

जा सकता है। वह जन-आंन्दोलन का वृहद् अखाड़ा है जहाँ कृषक और मजदूर राजनैतिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा को बढ़ा सकते है।

दुर्भाग्य से कुछ श्रमिकवर्ग के नेता इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उन्होंने १६२८ से अलग रहने की नीति अपनाई है और इस आत्मघातक नीति के फल-स्वरूप वे श्रमिक समुदाय से ही नहीं राष्ट्रीय संघर्ष से भी अलग रह गये है। परन्तु आश्चर्यों का आश्चर्य यह है कि वे फिर भी भारतीय क्रान्ति के अग्रभाग में होने का दावा करते हैं। जब कभी कांग्रेस ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष छेड़ा है इन नेताओं ने केवल अपने आपको ही उससे दूर नहीं रक्खा बल्कि श्रमिकों को भी उसमें भाग लेने से रोका है। बम्बई में राष्ट्रीय ध्वजा को गिराकर अनजाने ही साम्राज्यवाद के गुर्गे का काम करने वाला क्या एक कम्यूनिष्ट नेता ही नहीं था?

पिछले छै वर्षों से साम्यवादी विध्वंसात्मक कार्य ही करते रहे हैं। ट्रेडयूनियनों के क्षेत्र में भी उन्होंने प्रतिद्विन्दी यूनियनें बनाकर श्रमिकों की एकता को नष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु मैं पुरानी बातों को उखाड़ना नहीं चाहता क्योंकि सौभाग्य से अभी हाल ट्रेडयूनियन एकता स्थापित हो गई है यद्यपि इस एकता के अधिक दिन तक चलने में सन्देह है। क्योंकि मेरा विश्वास है कि ट्रेडयूनियन एकता के और संयुक्त मोर्चे के ये नारे फासिज्म की बढ़ती हुई विभीषिका से लड़ने और युद्ध होने की अवस्था में सोवियत रूस के पक्ष में संसार के श्रमिकों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए लगाये हैं। तृतीय इन्टरनेशनल आजकल जो नीतियाँ निर्धारित करती हैं वे रूस की गृहनीति का विस्तार-मात्र प्रतीत होती हैं। रूस युद्ध को टालने के लिए उत्सुक है और उसकी आन्तरिक स्थिति को देखकर विश्वक्रान्ति

की उपासिका इन्टरनेशनल को भी शान्तिकार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। लीग आफ नेशन्स सहसा शान्ति का साधन बन गई है। मैं लीग में सम्मिलित होने के लिए रूस को दोष नहीं देता और न मैं उसे साम्राज्यवादी राष्ट्रों से अनाक्रमण संधियां और परस्पर सहायता के समझौते करने के लिए बुरा कहता हूं। मेरा विचार है कि कूटनीतिक आवश्यकताओं के कारण रूस का यह सब करना ठीक है। परन्तु जो बात मेरी समझ में नहीं आती वह है तृतीय इण्टरनेशनल का रूस के रथ-चक्र मे बँध जाना। क्या उसे रूसी साम्यवादियों के अनुचित प्रभुत्व से अपने को मुक्त नहीं करना चाहिये। रूस की गृहनीति से अप्रभावित होकर वह अपने लिए स्वतंत्र रूप से क्यों न सोचे और क्यों न ऊपर से आदेश देना बन्द करके अपनी राष्ट्रीय शाखाओं को अपने अपने यहाँ की परिस्थितियों के उपयुक्त राजनीतिक कौशल और तरीके बरतने की स्वतन्त्रता दे? आज तो हम देखते हैं कि वहाँ स्वतंत्र रूप से सोचने को प्रोत्साहन नहीं मिलता और सभी जगहों के साम्यवादी रूसी हथकण्डों को यन्त्रवत् अपने यहाँ काम में लाते रहते हैं। सन् १९२८ में साम्यवादियों को मध्यवर्गीय संस्था में छोड़ देने का जो आदेश दिया गया था। वह अलग रहने की व्यापक नीति का एक भाग था। मैं जानता हूं कि चीन के अनुभव ने उन्हें सतर्क बना दिया है परन्तु यदि चीन में क्रान्ति असफल रही तो उसका कारण यही था कि जो तरीके उन्हे बताये गये थे उनमें हेर फेर करने की सुविधा नहीं थी। कुमिन्टॉग में प्रारम्भिक प्रवेश गलत नहीं था। चीन की साम्यवादी पार्टी ही सबसे पहिले यह मान लेगी कि यदि उसका राष्ट्रीय आंदोलन से निकट सम्पर्क न होता तो उस आन्दोलन को प्रभावित करने की विस्तृत सम्भावनायें उसे न मिलतीं और यदि वह प्रारम्भ से ही अलग रहने

की नीति पर चलती तो आज चीन के छठे भाग पर आधिपत्य करना उसके लिए सम्भव न होता। अलग रहने की नीति का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि पार्टी जन समुदाय से बिछुड़ जाती है और शीघ्र ही एक संकीर्ण जड़ीभूत समुदायमात्र रह जाती है। जो पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन पर कब्जा करना चाहती है उसे तो सभी वर्गों के पास अपने सदस्य भेजने पड़ेंगे और इसी प्रकार उसका राजनीतिक प्रभाव बढ़ सकता है। समाजवादियों को तो जहाँ जनसमूह हो वहां होना चाहिये और साम्राज्यवाद के विरुद्ध और जनहित मे प्रत्येक संघर्ष मे आगे रहना चाहिये।

कांग्रेस को भी चाहिए कि वह श्रमिकों के प्रति उदासीनता के स्वयम् को क्रियात्मक सहानुभूति में परिवर्तित करके अपना प्रभाव बढ़ाए। उसे ट्रेड यूनियन कांग्रेस की छत्रछाया में ट्रेडयूनियनें बनानी चाहियें और कृषक-वर्ग को एक दुर्धर्ष साम्राज्यवाद-विरोधी शक्ति बनाने के लिए कदम उठाना चाहिये। उसे आन्दोलन की नींव को अधिक विस्तृत बनानी चाहिये, और जो वर्ग क्रान्ति के मुख्य अवलम्ब हैं, उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने के लिए ठीक प्रकार संगठित करना चाहिए।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने एक गत कालीन प्रस्ताव में यह मान लिया है कि जन-समुदाय का शोषण तब तक नहीं रुक सकता, जब तक सामाजिक ढाँचे से क्रांतिकारी परिवर्तन न किया जाय। जब हम कांग्रेस से वर्ग-संघर्ष की व्यूहरचना करने के लिए कहते हैं, तो हम केवल उससे उस प्रक्रिया का श्रीगणेश कराना चाहते हैं जो कभी न कभी परिवर्तन ला ही देगी। यह परिवर्तन उन्हीं वर्गों द्वारा लाया जायगा जिनका उसमें हित है, और वे ऐसा तब तक नहीं कर सकेंगे जब तक कि उन्हें अपने वर्ग की माँगों के

आधार पर संगठित न किया जाय, और उनके आर्थिक संघर्ष को पूर्ण स्वतन्त्रता के आंदोलन के साथ न जोड़ दिया जाय।

यदि हम स्वतन्त्रता के सच्चे अभिलाषी हैं, और यदि हम सच-मुच यह विश्वास करते हैं कि हमारा स्वराज्य जनता का राज्य होगा तो फिर कांग्रेस को हमारे साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रय को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

इस बारे में यह बता देना उचित होगा कि हमारे जिन प्रस्तावों पर कांग्रेस में विचार-विमर्श हुआ है, वे समाजबादी ढंग के नहीं हैं। क्या मै पूछ सकता हूँ कि युद्ध-विरोधी प्रस्ताव को और धारासभाओं में घुसने और पार्लियामेंन्टीय कार्य करने विषयक प्रस्तावों को क्या किसी भी प्रकार समाजवादी कहा जा सकता है? केवल समाजवादियों द्वारा पेश किये जाने से ही वे वैसे नहीं बन जाते। एक तथाकथित समाजवादी प्रस्ताव में भी समाजवाद की चर्चा न होकर केवल यह बताया गया था कि जनता के लिए स्वराज्य का क्या अर्थ होगा।

इस विषय पर बोलते हुए मेरा विचार कुछ शब्द उस मुलाकात के सम्बन्ध में कहने का है जो अभी हाल में बम्बई में कांग्रेस के प्रधान महोदय से हुई थी।

मैं यह जानकर व्यथित हूँ कि हमारे प्रधान की धारणा है कि हम लोग अपने आचरण से जनता की दृष्टि में कांग्रेस की प्रतिष्ठा को नीचे गिरा रहे हैं। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे प्रधान ने बिना सोचे समझे हमारे साथ घोर अन्याय किया है। हमने अनेक बार अपने मंच पर से और कांग्रेस के मंच पर से कहा है— और अब भी मैं कहता हूँ कि हम कांग्रेस की प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहते हैं और हम उसे एक शक्तिशाली संस्था बनाने और साम्राज्य-वाद विरोधी संघर्ष के संचालन के योग्य बनाने का भरसक प्रयत्न

करेंगे। कट्टरपंथियों से भिन्न विचारों की अभिव्यक्ति और कांग्रेस की वर्तमान नीति की आलोचना ऐसी बातें नहीं हैं जिनको कांग्रेस की प्रतिष्ठा को कम करने का प्रयास कहा जा सके। हम तो अपने को कांग्रेस के सम्मान के प्रहरी समझते हैं और इसी कारण से हम चाहते हैं कि कांग्रेस उस मार्ग पर दृढ़ता से चलती रहे जो उसने सन १९२९ के महत्वपूर्ण लाहौर अधिवेशन में अपने लिए बनाया था और संघर्ष के ठीक तरीके निकाले जिससे शीघ्र सफलता मिले। हम समझते हैं कि जो प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ हाल ही में कांग्रेस में दिखाई पड़ी हैं उन्हे रोकने का प्रयत्न करना हमारा अधिकार है और हम आशा करते हैं कि हमारे प्रधान हमसे उस महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक अधिकार को छीनना नहीं चाहते जिसके द्वारा अपने विचारों का प्रचार करके अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक बन जाते हैं।

मुझे आशा है कि कांग्रेसियों के मुख्य मुख्य आक्षेपों का समाधान मैंने कर दिया है। अब मैं अतिवामपक्षियों के जो आक्षेप मेरे सामने आये हैं उनका उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा।

## अतिवामपक्षियों के आक्षेपों का उत्तर

एक ऐसे प्रतिपक्षी से तर्क करना अत्यन्त कठिन है जो किन्हीं कारणों से जिनको वही जानता हो आपके विरुद्ध छलपूर्ण प्रचार तो करता रहे परन्तु कभी भी अपने आक्षेपों को लेकर सामने न आवे। एक युक्ति अतिवामपक्षी प्रकार की अवश्य पत्रों में छपी है। जो ध्यान देने योग्य है। उसका सार यह है कि क्योंकि समाजवाद श्रमिक-वर्ग की चीज है इसलिए श्रमिकों की पार्टी ही उसकी स्थापना कर सकती है और इसके लिए श्रमिकों को एक स्वतंत्र वर्ग शक्ति के रूप में कार्य करना पड़ेगा और एक स्वतंत्र राजनैतिक

संस्था बनानी होगी। चूंकि समाजवादी पार्टी का कोई स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व नहीं है चूँकि वह अनेक वर्गों से बनी हुई राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस का एक अंग-मात्र है अतः उससे अपने कथित ध्येय की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती।

यह युक्ति स्पष्टतः उन परिस्थितियों की अवहेलना करती है जिनमें कांग्रेस समाजवादी पार्टी का जन्म हुआ था और साथ ही यह देश की सामान्य राजनैतिक स्थिति पर भी ध्यान नहीं देती।

जिन कारणों से पार्टी कांग्रेस के भीतर है उन्हें ढूँढ़ने के लिए दूर नहीं जाना पड़ेगा। पार्टी राष्ट्रीय संघर्ष के बीच में कुछ ऐसे कांग्रेसियों के कारण बनी है जो संसार की समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में आ गये थे। उन्होंने देखा कि पश्चिम में जनतंत्र के ऊपर संकट आ पड़ा है और प्रतिनिध्यात्मक संस्थायें सब ओर नष्ट भ्रष्ट हो रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि फासिज़्म की विभीषिका बढ़ती जा रही है पूँजीवाद पतनोन्मुख है और अपनी अन्तिम साम्राज्यवादी अवस्था में प्रवेश कर चुका है। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया कि संसार को अब फासिज़्म और समाजवाद में से एक को चुनना है और पूँजीवादी जनतंत्र का कोई भविष्य नहीं है। उन्होंने संसार को एक विकट आर्थिक-संकट में ग्रस्त पाया जो अन्तहीन प्रतीत होता था। उन्होंने देखा कि रूस ही एक ऐसा देश है जिसने समाजवाद की ओर ठोस प्रगति की है और सब ओर छाए हुए नैराश्य के अन्धकार में गरीबों पीड़ितों और दलितों के लिए वही आशा का प्रतीक है। उससे उन्हें प्रेरणा मिलती है क्योंकि मानव-समुदाय के लिए उसने एक नवीन युग प्रारम्भ किया है; यह सब देखकर और अन्य देशों की क्रान्तियों के इतिहास को पढ़कर उन कांग्रेसियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के कार्यक्रम में

आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध करने की अत्यन्त आवश्यकता को देखकर कांग्रेस को उसके लिए तैयार करना चाहा।

इसलिए कांग्रेस को छोड़ने का हमारे सामने कोई प्रश्न नहीं था। हमारे अलग पार्टी बनाने की जिम्मेदारी तो औरों पर है। यदि देश में कोई सच्ची श्रमिक-पार्टी होती यदि वह यहाँ की अवस्थाओं के अनुसार अपनी कार्य प्रणाली बनाती और उचित साधनों का उपयोग करती यदि वह अपने को जनसमुदाय और राष्ट्रीय संघर्ष से अलग न कर लेती यदि वह देश की मिट्टी में अपनी जड़ें जमा लेती और इस सिद्धान्त-वाक्य पर चलती कि मूल सिद्धान्तों को राष्ट्रीय विभिन्नताओं के अनुसार बनाकर व्यवहार में लाना चाहिये और यदि वह बाहर की एक ऐसी संस्था की पिछलग्गू न बन जाती जो अपने ओछे हथकंडों और कठोर नियंत्रण के कारण अपनी पिछली प्रतिष्ठा और प्रभाव को पर्याप्त मात्रा में खो चुकी है, तो एक दूसरी पृथक संस्था की कोई आवश्यकता नहीं थी। हमारी पार्टी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को चलाने के लिए कांग्रेस के मंच का उपयोग करती है। वह कृषकों के संघ और मजदूरों की ट्रेडयूनियनें बनाती है और ट्रेडयूनियन-क्षेत्र में अखिल भारतीय ट्रेडयूनियन कांग्रेस के साथ पूर्ण सहयोग से काम करती है। इस प्रकार वह जन-समुदाय के भीतर कार्य कर रही है और जैसे जैसे वह अपने को उनके अनुरूप बनाती जायगी और ठोस कार्य के द्वारा उनका विश्वास प्राप्त करती जायगी वैसे वैसे उसका प्रभाव भी उनमें बढ़ता जायगा।

हमारी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है और हमारा दावा है कि थोड़े समय में ही हमने समाजवाद के अनुकूल वातावरण पैदा करने और अपने साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम के लिए पर्याप्त समर्थन

प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। कालान्तर में हम सम्भवतः उस नियम में परिवर्तन कर सकेंगे जिसके अनुसार पार्टी की सदस्यता कांग्रेसियों तक ही सीमित है। यह भी सम्भव है कि समय आने पर सभी समाजवादी दलों को मिलाकर एक पार्टी बनादी जाय। परन्तु उस दिन के आने तक हमको अपने पृथक संगठनों से ही सन्तुष्ट रहना चाहिये और साथ ही जिन बातों पर हम सहमत हों उनमें परस्पर सहयोग करने का प्रयत्न करना चाहिये।

मुझे पता लगा है कि सम्भवतः कांग्रेस के साथ सम्बन्ध होने के कारण हमारे समाजवाद को नकली बताया जाता है और हमारे सहसा समाजवादी बन जाने पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है जिससे हमारी वास्तविकता पर सन्देह होने लगे। इसकी पुष्टि में यह और कहा जाता है कि जिन पर इतने दिनों तक गांधीवाद का जादू रहा उनसे समाजवाद को अंगीकार कर लेने की आशा नहीं की जा सकती यह कथन श्रमिकवर्ग पर अधिक लागू हो सकता है जिनमें अपने आप तो केवल ट्रेडयूनियन चेतना उत्पन्न हो सकती है। हमें यह न भूलना चाहिये कि समाजवादी विचार-धारा श्रमिक आन्दोलन से पृथक स्वतंत्र रूप से प्रस्फुटित हुई थी। उसकी उत्पत्ति क्रांतिकारी समाजवादी मस्तिष्क के विकास का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम था।

मुझे विदित हुआ है कि अतिवामपन्थियों ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का एक न्यूनतम कार्यक्रम बनाया है और वे उसे अपनी संयुक्त मोर्चाबन्दी की कार्यवाहियों का आधार बनाना चाहते हैं। वह कार्यक्रम नख-दन्त-विहीन है और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए अत्यन्त अपर्याप्त है। उसमें जनसमुदाय को देशी शोषकों के विरुद्ध संगठित करने का कोई जिक्र नहीं है। कृषकों और मजदूरों की जो आर्थिक मांगें उसमें रखी गई हैं वे बहुत ही मामूली

और सुधारवादी प्रकार की हैं इस प्रकार की छोटी माँगों के आधार पर विशाल जन-समुदाय को साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए परिचालित नहीं किया जा सकता।

## एक रचनात्मक प्रस्ताव की पर्यालोचना

अभी हाल ही में बंबई के एक पत्र में कांग्रेस-समाजवादी पार्टी के कार्य और उसकी आवश्यकता की चर्चा की गई है। लेखक ने इस विषय पर सहानुभूति से विचार किया है और पार्टी का स्वागत किया है। परन्तु उसका विचार है कि पार्टी तभी प्रभावशाली हो सकती है जब वह अपना अस्तित्व समाप्त करके केवल कांग्रेस के वाम-पक्ष की तरह कार्य करे। यह कहा गया है कि कांग्रेस से समाजवाद को अपने ध्येय की तरह अपनाने की आशा नहीं की जा सकती और इसलिए कांग्रेस के भीतर समाजवाद की बातचीत से साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का अहित ही होगा। मैं व्यक्तिगत रूप से इससे सहमत हूँ कि कांग्रेस समाजवाद का प्लेटफार्म नहीं है और उसका मुख्य कार्य साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष को बढ़ाना है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा संघर्ष तभी तीव्र हो सकता है जब हम उसे जनसमुदाय की आर्थिक माँगों के साथ जोड़ दें और यह तभी सम्भव है जब कांग्रेस के भीतर एक ऐसी पार्टी हो जो निरन्तर आर्थिक कार्यक्रम अपनाने के लिए हलचल मचाती रहे। मेरी यह भी धारणा है कि कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं में लगातार समाजवादी प्रचार करते रहने की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि जितनी अधिक सफलता हम इस दिशा में प्राप्त करेंगे उतनी ही कांग्रेस द्वारा एक जोरदार साम्राज्यवाद-विरोधी कार्यक्रम अपनाए जाने की सम्भावानायें अधिक होंगी। इसलिए और कुछ नहीं तो इसी कारण से पार्टी का बना रहना आवश्यक है! एक बिखरी हुई टोली

इस आवश्यक कार्य को पूरा नहीं कर सकती और मैं समझता हूँ कि हमारा पिछले बारह महीनों का अनुभव इस बात का साक्षी है कि जो मार्ग हमने पकड़ा है वह ठीक है अब सवाल रह जाता है उस नीति पर पुनर्विचार करने का जो अब तक कांग्रेस के भीतर अपनाई है। मै पहिले ही कह चुका हूँ कि उसमें एक तनिक से परन्तु महत्वपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है और मैंने उस दिशा की ओर भी संकेत किया है जिसमे वह परिवर्तन किया जाना चाहिए। मुझे पता है कि पार्टी का ध्यान उस ओर जा चुका है और मैं आशा करता हूँ कि यदि पार्टी को यह विश्वास हो गया कि परिस्थितियाँ उसकी नीति में परिवर्तन चाहती हैं तो वह अवश्य उस दिशा में आवश्यक कदम उठायेगी।

## नये विधान की असलियत

यह नितान्त आवश्यक है कि हम नये विधान-एक्ट के असली उद्देश्य को पूरी तरह समझ ले। हमें यह जानने की कोशिश करनी चाहिये कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इस सुधार को लादने के लिए क्यों इतने उत्सुक हैं यद्यपि देश के सभी राजनैतिक दलों ने उसकी निन्दा की है। इसके भीतर रहस्य यह है कि जन-समुदाय के बढ़ते हुए विद्रोह और राष्ट्रीय संघर्ष की उठती हुई लहर को रोकने के लिए साम्राज्यवाद के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने पुराने मित्रों से सम्बन्ध दृढ़ करे और नये मित्र देश में ढूँढ़े जिससे अपना सामाजिक आधार विस्तृत करके वह अपने विरोधियों से अच्छी प्रकार लोहा ले सके। नये विधान की रचना साम्राज्यवाद और देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए ही हुई है। यही कारण है कि भारतीय रियासतों और प्रान्तों का एक संयुक्त-राज्य बनाने पर इतना जोर दिया गया है। ऐसे अखिल भारतीय

संघ की स्थापना में कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं। भारतीय रियासतें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से स्वरूप और दर्जे में बिलकुल भिन्न हैं और वे उन शर्तों पर संघ में शामिल होने को तैयार नहीं है जो प्रान्तों पर लागू की जायँगी। फिर भी असमान इकाइयों का संघ बनाने का प्रस्ताव रक्खा गया है और सारी कठिनाइयों पर चूना पोत दिया गया है क्योंकि उससे साम्राज्यवादी हितों की सिद्धि होती है। भारतीय वैधानिक सुधारों के लिए बनाई गई संयुक्त पार्लियामेन्टीय कमेटी के शब्दों में केन्द्रीय धारासभा और कार्यकारिणी (Executive) में राजाओं के प्रतिनिधियों की उपस्थिति पर गम्भीरता से सब बातों का ध्यान रखते हुए विचार किया जायगा। राजाओं ने सदैव सब मामलों में बड़ी दिलचस्पी ली है। जिन गम्भीर मामलों की उपर्युक्त उद्धरण में चर्चा की गई है वे फौज के बजट के ऊपर गवर्नरजनरल और धारासभा में तनातनी हो जाने के सम्भावित खतरे से सम्बन्ध रखते हैं। कमेटी ने यहाँ तक कह डाला है कि केवल ब्रिटिश भारत के संघ में केन्द्र को उत्तरदायी रूप देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विधान निर्माता सबसे अधिक निरापद मार्ग पर चले हैं और उन्होंने विधान को सब प्रकार से अनुकूल बना लिया है। चारों ओर से विविध प्रकार से सुरक्षित इस विधान को पर्याप्त शासनाधिकार देने वाला बताना मखौल करना है।

प्रान्तीय क्षेत्र में भी उन प्रान्तों में द्वि-परिषदीय धारासभायें होंगी जहाँ ब्रिटिश शासन की विशेष रचना जमींदारी प्रथा प्रचलित है। दूसरे चैम्बरों की व्यवस्था इसलिए की गई है जिससे सम्पन्नवर्ग किसी भी ऐसे कानून को विलम्बित परिवर्तित अथवा अस्वीकृत कर सके जो उसकी सम्मति में ठीक न हो अथवा जो उसके अथवा साम्राज्यवाद के हितों पर आघात करता हो।

दूसरे चैम्बर के चुनाव का मताधिकार उनको दिया जायगा जिनके पास प्रचुर सम्पत्ति होगी अथवा जो किन्हीं ऊँचे सरकारी पदों पर कार्य कर चुके होंगे। जमींदारों बड़े व्यापारियों और उद्योगपतियों के हितों को उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व देकर और भी सुरक्षित कर दिया गया है। यह समझना कठिन है कि एक कृषि-प्रधान देश में जहाँ के देहात में सभी आर्थिक और राजनैतिक शक्ति जमींदारों के हाथ में है जमींदारों का एक विशेष हित कैसे मान लिया गया है जिसको विशेष सीटें भी दी जा सकती हैं।

निहित स्वार्थों को विशेष सुरक्षा दी गई है और यह सिफारिश की गई है कि जागीर तालुका, इनाम, बतन, मुनाफी इत्यादि नामों से मिले हुए भूमि भाग और सनदों के द्वारा मिले हुए अवध के तालुकेदारों के अधिकार ज्यों के त्यों रहेंगे और धारासभाओं और कार्यकारिणियों को बिना गवर्नरजनरल अथवा गवर्नरों की पूर्व अनुमति प्राप्त किये उनमें हेर फेर के सुझाव रखने का कोई अधिकार न होगा।

विधान में वैयक्तिक सम्पत्ति सुरक्षा की भी व्यवस्था की गई हैं। विशेष अवस्थाओं में केवल एक निर्दिष्ट प्रकार की सम्पत्ति को पर्याप्त हर्जाना देने के पश्चात ही छीना जा सकेगा और किसी खास प्रकार की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने अथवा उसमें व्यक्तियों के अधिकारों को समाप्त अथवा कम करने का आम कानून बनाने से पूर्व गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नरों की अनुमति लेनी पड़ेगी। यदि किसी व्यक्ति से कोई सम्पत्ति छीनी गई अथवा यदि उसके अधिकार उसमें कम किये गये तो उसे हर्जाना अवश्य दिया जायगा। जिन प्रान्तों में इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू है उनके लिए यह व्यवस्था की गई है कि

यदि धारासभा बंदोबस्त को संशोधित करने के लिए बिल पास कर दे तो गवर्नर उसे सम्राट की इच्छा जानने के लिए रोके रक्खे।

इस प्रकार जनसमुदाय के लाभ के लिए इन नई धारासभाओं में कोई भी कानून बनाना असम्भव होगा। देहात की समस्या प्रतिदिन अधिकाधिक विषम होती जा रही है। ज़मीन की कीमत गिर रही है और कृषकों के पास जो कुछ बचता था वह भी कृषि से उत्पन्न पदार्थों की कीमत गिर जाने के कारण लुप्तप्राय हो गया है। मुखमरी से भी बदतर हालत हो रही है। इस अवस्था का समुचित समाधान होना चाहिये। यदि कृषकों की दशा सुधारने के लिए कोई ठोस कार्य न किया गया तो उनकी दशा और भी बिगड़ जायगी। परन्तु नये विधान में भूमिपतियों के स्वार्थों की पूरी रक्षा की गई है और उनके विशेषाधिकारों को कम करने अथवा उनका दर्जा घटाने की अनुमति नहीं है और यह होना भी चाहिये क्योंकि साम्राज्यवाद का आधार तो जनता का शोषण ही है। वह अपने घर पर मजदूरों की मजदूरी घटाकर और उन्हे बेकार करके और साम्राज्य की जनता से अधिक लाभ ऐंठकर ही अपने सामने आये हुए घोर आर्थिक संकट की आँधी को सह सकता है।

चीन की तरह भारत छोटे किसानों का देश है। वह किसान कर्ज के भार से दबा हुआ है। उसके पास छिन्न भिन्न भूमि के टुकड़े हैं। कृषि के साधनों को उन्नत करने में असमर्थ है उसकी पैदावार की कीमत असामान्य रूप से गिर गई है उसे जमीन का भारी किराया देना पड़ता है और और भी अनेक प्रकार के अतिरिक्त कर उसे घोंस में देने पड़ते हैं। इसलिए उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। श्रमिकों का जीवन-स्तर भी बहुत नीचा है और उस पर भी आघात किया जा रहा है। प्रतिदिन भारी संख्या में मजदूर बेकार

हो रहे है। निम्नमध्यवर्ग भी दिनोंदिन गरीब होता जा रहा है। पढ़े लिखे मध्यवर्गीय नवयुवकों को काम नहीं मिलता और प्रतिदिन ऐसे अनेक भलेचंगे नौजवानों के आत्मघात की खबरें आती हैं जो ईमानदारी से काम करके अपना पेट नहीं भर पाते। इस मानव-जीवन की भारी बरबादी को रोकने के लिए इस व्यापक दुख को कम करने के लिए कुछ नहीं किया जाता और यदि जनता के प्रतिनिधि गरीबी की समस्या को हल करना चाहें तो उन्हें वैयक्तिक सम्पत्ति के पावन नाम में ऐसा नहीं करने दिया जाता।

विधान में जनता की स्वतंत्रता को दबाने की भी व्यवस्था की गई है। यद्यपि प्रान्तों में शान्ति और सुव्यवस्था का कार्य लोकप्रिय मन्त्रियों के ही हाथ में रहेगा परन्तु पुलिस के आन्तरिक गठन और अनुशासन के बहुत से अधिकार इन्सपेक्टर जनरल के हाथों में सुरक्षित रखे जायेंगे। पुलिस के कायदे कानून बिना गवर्नर की सहमति के संशोधित नहीं किये जा सकेंगे। यह भी प्रबन्ध किया गया है कि आतंक-कार्यों के सूचक विवरण-पत्र केवल इन्सपेक्टर जनरल द्वारा निर्दिष्ट पुलिस अफसरों अथवा गवर्नर द्वारा निर्दिष्ट अन्य अफसरों को दिखाये जायें। इस प्रकार भारतीय मंत्रियों को यह भी पता नहीं लग सकेगा कि जिस सूचना के आधार पर कोई अभियोग चलाया गया है वह सच भी है अथवा नहीं। और चूँकि उच्चपदस्थ पुलिस कर्मचारी भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त किये जाते रहेंगे और चूँकि गवर्नर पर पुलिस को राजनीतिक प्रभाव से दूर रखने और उसके हितों को सुरक्षित रखने का विशेष दायित्व होगा अतः भारतीय मंत्रियों के लिए ऊँचे पुलिस अफसरों और परिणामतः पुलिस पर नियन्त्रण रखना सम्भव न होगा। पिछले कार्यों के लिए भी पुलिस वालों को अभयदान दे दिया गया है और अपने कर्त्तव्य-

पालन की आड़ में वे चाहे कुछ भी करें उनके विरुद्ध कोई दीवानी या फौजदारी मामला नहीं चलाया जा सकता। अतः पुलिस का वर्तमान जुल्म भारतीय मंत्रियों के होते हुए भी जैसे का तैसा चलता रहेगा।

प्रान्तीय सर्विसें ताज की समझी जायेंगी और गवर्नर उनका प्रमुख माना जायगा। उनके हितों की पूरी रक्षा की जायगी और गवर्नर पर यह विशेष दायित्व होगा कि वह उनके विशेषाधिकारों पर कोई आँच न आने दे। इन पदों पर नियुक्तियाँ गवर्नर के नाम से होंगी और बिना गवर्नर की आज्ञा के किसी को पदच्युत नहीं किया जा सकेगा। जो नियुक्तियाँ भारत-मंत्री द्वारा की जायेंगी उनमें वह उन अफसरों की नौकरी की शर्तों पर नियन्त्रण रखेगा। सक्षेप में अधिकारी वर्ग पर मंत्रियों का अनुशासन नाम-मात्र को ही होगा।

प्रान्त की शक्ति और सुरक्षा पर संकट आने की अवस्था में गवर्नर का विशेष दायित्व होगा और अपने इस दायित्व को सुचारु रूप से निभाने के लिए उसे विस्तृत अधिकार होंगे। अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए गवर्नर को अपने मंत्रियों की बात को टालने का अधिकार ही न होगा वरन् जिस कार्य के लिए धारासभाई पूर्वादेश अथवा द्रव्य की आवश्यकता हो उसे भी कर डालने के उसे विशेष अधिकार होंगे। वह कोई भी आज्ञा दे सकता है और यदि कोई मंत्री उसके द्वारा बताये हुए ढंग से कार्य न करे तो वह उसे पदच्युत भी कर सकता है। ऐसे अवसर पर गवर्नर विधान को रद भी कर सकता है और जो अधिकार वह आवश्यक समझे उन्हें अपने हाथ में ले सकता है। आतंकवादियों का मुकाबिला करने के लिए भी उसे विशेष अधिकार दिये गये हैं और उनकी हरकतों को रोकने के लिए वह आवश्यकता पड़ने पर गवर्नमेन्ट के

किसी भी विभाग का कार्य अपने हाथ में ले सकता है। और यदि वह चाहे तो इस कार्य के लिए नई मशीनरी का निर्माण भी कर सकता है।

"गम्भीर संकटों" में आतंकवाद और अन्य विध्वंसक हलचलें ही सम्मिलित नहीं हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि शासन के अनेक विभाग ऐसे हैं जिनमें गलत कदम उठाने से प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है। उदाहरण के लिये मालगुजारी अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में हम सरलता से ऐसी परिस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं जिनसे शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाय। अतः यदि गवर्नर की सम्मति में भूमिकर सम्बन्धी किसी नियम-विशेष से प्रान्त की शान्ति को खतरा हो तो वह अपने विशेष अधिकारों से किसी भी सरकारी विभाग पर कार्यवाही कर सकता है अपने विशेष दायित्व को निभाने के लिए उसे आवश्यक द्रव्य भी उपलब्ध होता रहेगा।

संघीय धारासभा का चुनाव अप्रत्यक्ष होगा यद्यपि भारतीय जन-मत एक स्वर में सीधे चुनावों का समर्थन करता है। केन्द्र में द्वि-वैध शासन (Dyarchy) जारी किया जायगा और भारतीय अर्थमंत्री का केवल २० प्रतिशत बजट पर अधिकार होगा। प्रान्तों के गवर्नरों की तरह गवर्नरजनरल के भी विशेष अधिकार होंगे।

एक शाही रेलवे बोर्ड बनाई जायगी और भारतीय रेलों का प्रबन्ध उसको सौंप दिया जायगा। बोर्ड केन्द्रीय धारासभा के नियन्त्रण से करीब करीब स्वतन्त्र होगी।

विशेष व्यापारिक हितों की रक्षा की जायगी और गवर्नर जनरल पर अन्य विशेष दायित्वों के साथ साथ यह भार भी होगा कि वह भारत में आने वाले ब्रिटिश माल के साथ किसी प्रकार का दंडात्मक

अथवा भिन्नता का व्यवहार न होने दे। यह सिद्धान्त रक्खा गया है कि भारत और ब्रिटेन अपनी व्यापारिक समस्या पर परस्पर आदानप्रदान के भाव से सोचें। ब्रिटिश भारत में राज-नियमों द्वारा ब्रिटिश जहाजों के साथ किसी प्रकार का पृथकता का व्यवहार न होगा। ब्रिटेन में संस्थापित कम्पनियों को भारत में व्यापार करते समय कुछ मामलों में भारतीय कानून के मुद्दों की पूर्ति करने की आवश्यकता न होगी, यद्यपि विधान की तिथि के पश्चात् उद्योग अथवा व्यापार प्रारम्भ करने वाली कम्पनियों को भारतीय कानून के अनुसार ही संस्थापित किया जा सकेगा और राज्य की सहायता प्राप्त करने के योग्य बनने से पहिले उन्हें और भी कुछेक शर्तों का पालन करना पड़ेगा।

विधान में प्रस्तावित परिवर्तनों के कारण वार्षिक व्यय बढ़ेगा और भारतीय टैक्स देनेवाले पर और अधिक भार पड़ेगा। जिन प्रान्तों का व्यय आय से अधिक होगा उनको संघीय आय में से पूरककोष देना पड़ेगा और संघीय न्यायालय प्रान्तीय स्वायत्त शासन और धारासभाओं और मतदाताओं के विस्तार के कारण भी शासन का आवर्तक व्यय बढ़ेगा।

इन नाम-मात्र के विधान से बस करदाताओं पर और अधिक बोझ बढ़ेगा और हमारी दासता की शृंखलायें और भी दृढ़ हो जायेंगी। प्रान्तीय साधन इतने अल्प होंगे कि कोई भी भारतीय मंत्री राष्ट्र-निर्माण के विभाग विकसित करने में समर्थ न हो सकेगा।

नये विधान की समालोचना समाप्त करने से पहले यह आवश्यक है कि हम नई योजना के और प्रस्तावों पर दृष्टि डालें। मेरा मतलब है अदन को ब्रिटिश सरकार को दे देने और बर्मा को भारत से पृथक कर देने के प्रस्तावों से। अदन का ब्रिटेन के लिए बड़ा सामरिक

महत्व है और उसको लेने का प्रस्ताव इस बहाने से किया गया है कि वह सम्पूर्ण पूर्वी साम्राज्य के लिए बड़े महत्व का है। बर्मा के मामले में भिन्न बातें विचाराधीन थीं। बर्मा आर्थिक दृष्टि से तेल सीसा टिन और लकड़ी का धनी क्षेत्र है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि नया विधान एक प्रतिक्रियात्मक वस्तु है और उसका निर्माण साम्राज्यवादी हितों को दृढ़ करने और भारत के ऊपर ब्रिटेन के फौलादी शिकंजे को कड़ा करने के लिए किया गया है।

## विधान-विध्वंस करने का हमारा पक्ष

यह स्वाभाविक था कि कांग्रेस ब्रिटिश आधिपत्य को अमर बनाने वाले इस नाम मात्र के विधान को अस्वीकार करने का इरादा प्रकट करती यद्यपि अधिक अच्छा यह होता कि कांग्रेस के प्रस्तावों में श्वेतपत्र का वास्तविक रूप दिखाकर इस विधान को अस्वीकृत करने के कारणों को विस्तार से व्यक्त किया जाता। कांग्रेस ने अपनी यह भी सम्मति रखी कि इस विधान का सन्तोषपूर्ण विकल्प यही हो सकता है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधानसभा के द्वारा विधान बनवाया जाय। परन्तु असली बात देखने की यह है कि विधान को अस्वीकृत करके कांग्रेस क्या करती है। हमारी राय में तो इस निश्चय के अनुकूल एक ही सम्मानपूर्ण और सम्भव रास्ता है और वह यह है कि दृढ़ता से इस विधान के रास्ते में कठिनाइयाँ और बाधायें डालकर इसको विफल कर दिया जाय। अस्वीकार करने का अर्थ यह भी है कि पदग्रहण न किया जाय। इसी प्रकार हम विधान के खोखलेपन को दिखाकर उसे रद्द करा सकेंगे। हमें यह अनुभव कर लेना चाहिये कि नये विधान से हमारी प्रगति में बाधा पड़ेगी और जितनी शीघ्र यह बाधा हमारे रास्ते से

दूर होगी उतनी ही तेजी से हम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

मेरे लिए इस विषय पर विस्तार से बोलने की आवश्यकता न होती यदि धारासभा में पार्लियामेंन्टरीय बोर्ड स्वराज्यपार्टी के पुराने पद-चिन्हों पर चली होती और यदि कुछ जिम्मेदार व्यक्तियों ने इन सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए भ्रमपूर्ण प्रचार प्रारम्भ न कर दिया होता।

जब सन् १९३४ में कराँची में स्वराजपार्टी का पुनर्जन्म हुआ था तब उसने जो नीति और कार्यक्रम अपने सामने रखा था उसमें पदग्रहण के विषय में चुप्पी का आश्रय लिया गया था और सम्पूर्ण कार्यक्रम में सुधारों को कार्यान्वित करने की भावना ही थी। इससे स्पष्टतया उस भारी परिवर्तन का पता लगता है जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन के पश्चात् हमारे परिषदियों की मनोवृत्ति में हो गया था। सम्भवतः आन्दोलन में हुई देश की हार और सविनय विरोध के वातावरण के अभाव के कारण उन्होंने अपनी पुरानी बाधा डालने की नीति में परिवर्तन करना उचित समझा। पार्लियामेंन्टरीय बोर्ड की सामान्य मनोवृत्ति, उसके प्रतिनिधियों का असेम्बली में अपने निर्वाचन के समय किये गये वायदों को पूरा न कर सकना, गवर्नमेंन्ट के ऊपर सरल और थोथी विजय प्राप्त करने की उनकी उत्कट अभिलाषा और इस कार्य के लिए अपने सिद्धान्तों का बलिदान करके भी अन्य पार्टियों का सहयोग प्राप्त करने का उनका प्रयास इन सब बातों से हमें यह आशा नहीं होती कि इन सुधारों को अस्वीकृत कराने के लिए कोई दृढ़ प्रयत्न किया जायगा।

दूसरी ओर सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए अनुकूल वातावरण चुपचाप बनाया जा रहा है और राष्ट्र के मस्तिस्क को शनैः

शनैः इस नीति को मान लेने के लिए तैयार किया जा रहा है। जो चुप्पी चारों ओर छाई हुई है उससे इस नीति के समर्थकों को और भी बल मिल रहा है।

प्रतिक्रिया के समय में सतर्क और सजग रहना और भी आवश्यक है जिससे चलते पुर्जे लोग आगे निकलकर अपने विचारों के अनुसार निर्णय न करालें। ऐसे अवसरों पर देरी करना सदैव घातक होता है और जो फुर्ती और दृढ़ता से कार्य करता है वही सफल होता है। इसलिए यदि हम एकदम जनमत को विध्वंसात्मक नीति की ओर नहीं चलायेंगे तो सब चौपट हो जायगा। कार्यकर्त्ताओं को शीघ्र ही निर्णयात्मक दृष्टिकोण लेकर अपनी बात को चलाना चाहिये और जो पदाधिकारी हैं उनको बता देना चाहिये कि बहिष्कार की नीति मे कोई हेर फेर सहन नहीं किया जायगा।

इस एक प्रश्न के निर्णय के ऊपर कांग्रेस का भविष्य बहुत कुछ निर्भर करेगा। सम्पूर्ण आंदोलन के क्रान्तिकारी मार्ग से च्युत हो जाने का डर है और यदि कांग्रेस विधानवाद और सुधारवाद के पुराने वीरान पथ पर चली तो वह एक ऐसे दलदल में जायगी जहाँ से निकलना उसके लिये सम्भव न होगा।

यह प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है और इसका निर्णय पार्लिया-मेन्टरीय बोर्ड के हाथों में नहीं छोड़ देना चाहिये। कांग्रेस को इस बारे में स्पष्ट निर्देश देना चाहिये जिससे कोई गोलमाल न हो सके।

जो पार्टी पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य लेकर चली है उससे विध्वं-सात्मक नीति मनवाने के लिए विशेष वकालत करने की आवश्यकता नहीं है। वह कभी भी साम्राज्यवाद से समझौता नहीं कर सकती लक्ष्य की प्राप्ति होने तक उसे तो निरन्तर संघर्ष किए जाना है। उसे

किसी भी दशा में ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट द्वारा थोपे हुए विधान को कार्यान्वित करने का भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। फिर कांग्रेस ने तो ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट के भारतीय विधान निर्माण करने के अधिकार को चुनौती भी दी है।

अन्त में यह भी है कि मन्त्रिपदों को स्वीकार करने से लोगों के मन में यह भ्रम जम जायगा कि नये विधान में कुछ ठोस अच्छाइयाँ हैं। चाहे वे पद विधान को कार्यान्वित करने के लिए अथवा उसे छिन्न भिन्न करने के लिए ग्रहण किये गये हों। इस प्रकार अनजाने ही सम्पूर्ण राष्ट्र की मनोवृत्ति बदलकर वैधानिक संघर्ष के पक्ष में हो जायगी।

## उपसंहार

साथियो, भारत के हाथों में पूर्व के बहुत से देशों की स्वतन्त्रता की कुंजी है। भारत में ब्रिटेन के जो साम्राज्यवादी हित फँसे हुए हैं उनके कारण लाल समुद्र और फारस की खाड़ी के बीच का सभी भूभाग ब्रिटेन के लिए महत्वपूर्ण है। यदि मिश्र पूर्णतः स्वाधीन नहीं है और स्वेज नहर पर ब्रिटिश सैनिकों का संरक्षण है तो इसका कारण यह है कि स्वेज नहर ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के जलमार्ग का प्रवेश द्वार है। ब्रिटेन इराक में हवाई अड्डे बनाकर सैनिकों द्वारा उनकी रक्षा भी इसीलिए करता है क्योंकि वह भारत से वायुमार्ग द्वारा अपने सम्बन्ध अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है।

पूर्व के जो देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं वे यह भली भाँति जानते है कि भारत की स्वतन्त्रता में उनकी स्वतन्त्रता है और इसी कारण से उन्होंने राजनैतिक पथप्रदर्शन के लिए सदैव भारत की ओर देखा है। भारत के राष्ट्रीय संघर्ष ने इन

देशों पर गहरा प्रभाव डाला है और उन्होंने अपने स्वतन्त्रता-संघर्षों में बहुत कुछ कांग्रेस की पद्धति अपनाई है।

हम इतने देशों और जातियों की आजादी के प्रतीक हैं इस बात से प्रेरणा लेकर हम कार्य करें और इस बात का प्रबन्ध करें कि राष्ट्रीय आन्दोलन शीघ्र ही अपनी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों से मुक्त हो जावे। कांग्रेस में हमारी उपस्थिति इस बात की गारंटी होनी चाहिये कि कांग्रेस ठीक मार्ग ही अपनायेगी परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम अपना पार्ट भली भाँति अदा करें। हमें अपने आदर्श आचरण और जनसमुदाय के बीच रचनात्मक कार्य से अपने संघर्ष का आधार विस्तृत करना चाहिये और इस प्रकार अपने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिये और पूर्व के देशों में प्रगतिशील शक्तियों को बलवान बनाना चाहिये।

---

: ४ :

# आजादी की लड़ाई

# आजादी की लड़ाई

## [ १ ]

## स्पीकर (१९३७)

[ ३१ जुलाई सन् १९३७ को बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन सर्व-सम्मति से संयुक्त प्रांत की धारासभा के अध्यक्ष चुने गये। सभी पार्टियों ने उनके प्रति सम्मान और शुभ कामनायें व्यक्त कीं। आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने भाषण में अपने प्रतिष्ठित सहयोगी को बधाइयां ही नहीं दीं, प्रत्युत यह आशा प्रकट की कि वे अध्यक्ष पद की नई परम्परायें स्थापित करेंगे और भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सक्रिय भाग लेते रहेंगे। यह भाषण संयुक्तप्रान्त की धारासभा में दिया गया था। —सम्पादक ]

स्पीकर महोदय, मैं बड़ी प्रसन्नता से उन भावों में योग देता हूं जो मेरी पार्टी के नेता ने इस महान पद के लिए आपको बधाई देते हुए व्यक्त किये हैं। इस सभा ने सर्वसम्मत से आपको अपना मुखिया बनाया है और अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा का भार आप पर डाला है आप इस परिषद के पहले अध्यक्ष हैं और श्रीमान् मुझे विश्वास है कि हममें से प्रत्येक को आपकी निष्पक्षता और निर्णय-बुद्धि पर पूरा भरोसा है। छोटे होने के नाते मेरे लिए यह उचित नहीं है कि मैं आपके गुणों और विशेषताओं पर विस्तार से कुछ कहूं परन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं यहाँ अपनी व्यक्तिगत

हैसियत से नहीं बोल रहा हूं। मैं तो इस प्रान्त के कांग्रेस संगठन के प्रधान की हैसियत से उन हजारों कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की ओर से बोल रहा हूँ जो सम्पूर्ण प्रान्त में बिखरे हुए हैं। मैं उन लाखों भारतीयों की ओर से भी बोल रहा हूँ जो इस प्रान्त में निवास करते हैं और जिन्होंने पिछले चुनावों में कांग्रेसियों के पक्ष में वोट देकर हममें विश्वास प्रकट किया और साथ ही हमें धारासभा में उस नीति और कार्यक्रम पर चलने का आदेश दिया जो कांग्रेस के निर्वाचन घोषणा-पत्र में बताये गये थे। श्रीमान् मैं इस सभा से अल्पसंख्यकों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उनके साथ न्याय और निष्पक्षता का व्यवहार करना हमारा विशेष कर्तव्य होगा। कांग्रेस पार्टी इस बात का विशेष प्रयत्न करेगी कि उन्हें प्रत्येक विचाराधीन विषय पर बोलने का और अपने असन्तोष और अभाव-अभियोगों को व्यक्त करने का पूरा अवसर मिले और गवर्नमेंन्ट से जो कुछ वे मालूम करना चाहें वह उन्हें बताया जाय। मैं आशा करता हूँ कि आप इस कार्य में सदैव हमारी सहायता करेंगे और मैं उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूं कि इस मामले में आपको सदैव हमारा सहयोग प्राप्त होगा परन्तु एक महत्वपूर्ण बात ऐसी है जिसकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा।

वह बात सभा के माननीय नेता द्वारा आपके सामने पहिले ही रखी जा चुकी है और श्रीमान् मैं समझता हूं कि जिस पार्टी का सदस्य होने का गौरव मुझे प्राप्त है उसकी यह सर्वसम्मत चाह है कि आप पश्चिमी विदेशी जनतन्त्र की परम्पराओं से अपने आपको सीमित और बद्ध न करलें। मैं मुस्लिम लीग पार्टी के माननीय नेता के इस कथन से पूर्णतः सहमत हूँ कि आपको अध्यक्ष पद की एक नवीन व्याख्या करके नई परम्परा और नई नीति का इस सभा में श्रीगणेश

करना चाहिये। यह मैं कांग्रेस पार्टी की सुविचारित सम्मति आपके सम्मुख रख रहा हूं। इस मामले को तय करने से पहले आपको भारत की सम्पूर्ण वर्तमान स्थिति को देखना होगा और यह भी सोचना होगा कि हमें स्वतन्त्रता के संग्राम में आगे बढ़ना है। यह समय किसी भी भारतीय के लिये संग्राम-स्थल से दूर रहने का नहीं है। हम आपके पथप्रदर्शन और परामर्श को ऐसे संकट के समय में खो देने के लिए तैयार नहीं हैं और श्रीमन कांग्रेस के दृष्टिकोण से तो धारासभाओं के भीतर का यह कार्यक्रम वस्तुतः सम्पूर्ण कार्यक्रम का एक अत्यल्प भाग है। हमारा ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता है। हमारी संस्था एक राष्ट्रीय संस्था है हमारा संगठन साम्प्रदायिक नहीं है और कम से कम यह नहीं सोचा जा सकता कि हम किसी विशेष वर्ग अथवा हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम यहाँ भारत के समग्र जनसमुदाय की ओर से हैं और चाहे अल्पसंख्यक समूह मेरी बात से सहमत हों या न हों हमारा दावा है कि हम उनका भी प्रतिनिधित्व करते हैं। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि कांग्रेस सांप्रदायिक संस्था नहीं है। वह सदैव ईमानदारी से भारतीय जनसमुदाय की इच्छा को जानने और व्यक्त करने का प्रयत्न करती है! श्रीमन मैं जानता हूँ कि जो लोग बहुत से प्रश्नों पर हमसे मतभेद रखते हैं वे भी यह अनुभव करते हैं कि विश्व की नजरों में भारतीय जनता को ऊँचा उठाने का श्रेय कांग्रेस को ही है। आज जो विदेशों में भारतीयों का आदर होता है वह कांग्रेस के ही कारण है। श्रीमन मैं पूँछता हूं कि आज भारतवर्ष संसार की राजनीति के अग्रभाग में क्यों हैं? यदि आप किसी भी अमरीकी अथवा अन्य विदेशी समाचार पत्र के पन्ने उलटकर देखें तो आपको पता लगेगा कि भारत की उनमें बराबर चर्चा रहती है। यह कांग्रेस

ही है जिसने मान बढ़ाया है और संसार की दृष्टि में हमे ऊँचा चढ़ाया है। श्रीमन मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप इस इस तथ्य को अपने सामने रखें और यह भी सोचें कि जिस विधान को कार्यान्वित करने के लिये हमसे कहा जाता है वह व्यापक विरोध के होते हुए भी हम पर लादा गया है और हम शीघ्रातिशीघ्र उसका अन्त करके उसके स्थान पर भारत की स्वतन्त्रता के ऊपर आधारित विधान लाना चाहते हैं। अतः मै आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप नवीन परम्परा को जन्म दें और हमें एक ऐसे नए मार्ग पर चलावें जिस पर हमारी जैसी परिस्थितियों में फँसे हुए व्यक्ति आगे भी चल सकें। परन्तु यह मैं पूरी तरह स्पष्ट कर दूँ कि मैं यह नहीं चाहता कि आप अपने पद और प्रभाव का उपयोग अपनी पार्टी के राजनैतिक लाभ के लिए करें। नहीं प्रत्येक व्यक्ति और राजनैतिक दल को इस सभा में अपने विचार व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए मैं तो श्रीमन् केवल यह सोचता हूं कि वह बड़ा ही दुःखद होगा यदि आप जिस राजनैतिक पार्टी के सदस्य हैं उससे पृथक होने का निर्णय कर लें और जब तक इस पद पर आसीन रहें तब तक के लिए राजनैतिक नेता न रहें। मैंने आपके सामने पार्टी की प्रबल आन्तरिक कामना रख दी है और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आप इस मामले में सब बातों पर गौर करके अपने लिए कोई सबसे अच्छा मार्ग निकाल लेंगे। मुझे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। एक बार और आपकी अनुमति से मैं आपके प्रति सम्मान प्रदर्शित करता हुआ आपके इस उच्च पद पर आसीन होने के लिए आपको हार्दिक बधाइयाँ देता हूँ।

———

# आजादी की लड़ाई

## [ २ ]

## संविधान सभा (१९३७)

[ भारतीय संविधान सभा की बैठक शीघ्र ही होने वाली है अत. यह जानना विशेष रुचिकर है कि भारतीय राजनीति में विधान सभा का विचार कैसे पनपा है। सन् १९३७ में संयुक्त प्रान्तीय धारासभा ने अन्य धारासभाओं की भाँति निम्न प्रस्ताव पर वादविवाद किया :—

इस सभा की सम्मति मे १९३५ का भारतीय एक्ट राष्ट्र की इच्छा का किसी प्रकार भी प्रतिनिधित्व नहीं करता और क्योंकि वह भारतीयों की दासता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए निर्मित हुआ है इसलिए पूर्णतः असन्तोषप्रद है। यह धारासभा मांग करती कि उसे हटाकर उसके स्थान पर वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा के द्वारा निर्मित स्वतन्त्र भारत का विधान लागू किया जाय जिससे भारतवासियों को अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार समुन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले।

इस प्रस्ताव को पेश करने की सूचना संयुक्तप्रान्त के प्रधान-मंत्री पं० गोविन्द बल्लभ पन्त के द्वारा दी गई थी। उनकी अनुपस्थिति में स्थानीय स्वशासन (Local self-government) की मंत्रिणी श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने इसे उपस्थित किया।

इस प्रस्ताव पर दो विशेष रूप से उल्लेखनीय संशोधन मुस्लिम लीग और स्वतंत्र पार्टी (जमींदारों) की ओर से रखे गये।

मुस्लिम लीग का संशोधन जो श्री मुहम्मद इस्माइल खाँ के द्वारा रखा गया यह था :—बशर्ते कि किसी माने हुए समझौते के अभाव में संघविधान सभा में मुसलमानों के प्रतिनिधियों की संख्या और निर्वाचन प्रणाली वही होगी जो साम्प्रदायिक पारितोषिक (Communal award) के द्वारा उन्हें दी गई है और बशर्ते कि संविधान सभा को मुसलमानों के वर्तमान सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक अधिकारों और वैयक्तिक नियमों में तीन चौथाई मुस्लिम प्रतिनिधियों की सहमति के बिना परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं होगा। दूसरा संशोधन जो नवाब डाक्टर सर मुहम्मद अहमद सईद खाँ ने पेश किया इस प्रकार था बशर्ते कि जमींदारों दलित वर्गों और अन्य अल्पसंख्यकों को संविधान सभा में पर्याप्त और विशेष प्रतिनिधित्व दिया जायगा और विधान सभा वैयक्तिक सम्पत्ति के उचित और कानूनी अधिकारों और हितों में हस्तक्षेप न करेगी।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने ४ सितम्बर सन् १९३७ के अपने भाषण में संविधान सभा के विचार के पीछे जो सामाजिक अवलम्ब है उसका स्पष्ट व्याख्यान किया है। उन्होंने दोनों संशोधनों का प्रभावपूर्ण उत्तर भी दिया। —सम्पादक।

आचार्य नरेन्द्रदेव : श्रीमन इस प्रस्ताव पर बहस करने से पहिले मैं एक चेतावनी दे देना आवश्यक समझता हूँ। आप जानते हैं श्रीमन् कि यह प्रस्ताव इस सभा के सामने कांग्रेस के निर्देश के अनुसार रखा गया है। इसके बारे में कुछ भ्रम और संशय प्रतीत होता है। इसमें उलझे हुए अनेक विचार निहित हैं। इसके पहिले कि इस पर मत लिये जायँ मैं अपने माननीय विपक्षी मित्रों को यह बता देना चाहता हूँ कि कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता है और

स्वतंत्रता का मतलब ब्रिटेन से पूर्णतः नाता तोड़ लेना है। हम साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के पोषक नहीं हैं। हम जानते हैं कि साम्राज्यवाद केवल पूँजीवाद का पतनोन्मुख रूप है और यदि हम एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं और अपने समाज की वर्तमान विकट असमानताओं को दूर करना चाहते हैं तो हमें उच्चवर्ग के लिए ही नहीं बल्कि सामान्य जनता के लिए भी उन्नति और संस्कृत का नया युग प्रारम्भ करना पड़ेगा। विपक्ष की ओर से एक महानुभाव ने अपने को प्रजातन्त्र का पक्षपाती और समाजवाद का विरोधी बताया है। परन्तु वे यह भूल गये प्रतीत होते हैं कि केवल समाजवाद ही पूर्णतम प्रजातन्त्र का हामी है। पूँजीवादी जनतन्त्र तो जनतन्त्र का मखौल है। आर्थिक समानता और जनता की आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक प्रजातन्त्र केवल एक अर्थहीन ढकोसला है। हम केवल कुछ वर्गों के लिए नहीं अपितु विशाल जनसमुदाय के लिए पूर्णतम प्रजातन्त्र चाहते हैं। हम अपनी निर्धन जनता के लिए वह ज्ञान का कोष खोल देना चाहते हैं जो हमें पूर्वजों से मिला है। हम जीवन की सभी आर्थिक विषमताओं को दूर करना चाहते हैं। इसलिए केवल समाजवाद ही पूर्ण जनतन्त्र का पक्षपाती है। बहुत से मामलों में हमारे समाज में परिवर्तन आ गया है और राष्ट्र के शरीर में नवीन तत्वों का समावेश हो गया है। यदि पतनोन्मुख वर्ग अधिक समय तक जीवित रहना चाहता है तो उन्हें उस परिवर्तन को देखकर उसके अनुसार अपने को बना लेना चाहिये मैं कांग्रेस की ओर से स्पष्ट और जोरदार शब्दों में यह कह देना चाहता हूँ कि कांग्रेस भारत के ऊपर साम्राज्यवादी प्रभुत्व नहीं चाहती। वह जनता की मुक्ति का ध्येय लेकर चली है जब कि साम्राज्यवाद का उद्देश्य जनता का शोषण है। पतनोन्मुख साम्राज्य-

वाद का अन्तिम रूप फासिज्म और उसके जँगली कारनामे हैं। संसार की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उन्नति और प्रगति के मार्ग में रोड़े अटका रही हैं। वे स्वभावतः अपना अस्तित्व बनाये रखने और अपनी आयु बढ़ाने के लिए आतुर हैं और इसलिए वे ऐसे उपायों का सहारा लेती हैं जो नितान्त जँगली ही कहे जा सकते है। अतः हम साम्राज्य-वाद के समर्थक नहीं हैं। ऐसा कहने से मेरा तात्पर्य यह नही है कि हम ब्रिटिश जनता से द्वेष करते हैं। नहीं मुझे तो ब्रिटिश लोगों से प्रेम है और मैं चाहता हूँ कि भारतवासी उनके गुणों को अपने भीतर धारण करें। मेरा विरोध व्यवस्था मे है व्यक्तियों से नहीं। हम घृणा को लेकर नहीं चले। हमारा ब्रिटिश जनता से कोई झगड़ा नहीं है। ब्रिटिश जनता हमारे ऊपर शासन भी नहीं कर रही है बल्कि आर्थिक शक्ति सम्पन्न एक छोटा सा वर्ग वस्तुतः शासक वर्ग है। मैं एक बार और कह दूँ कि कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद नष्ट करने पर तुली हुई है। हाँ यदि सम्भव हो और हमारे हितों के लिए अनिवार्य हो तो हम ब्रिटेन से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं परन्तु हमें अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार अपने भाग्य-निर्णय की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिये।

दूसरी बात जिस पर मैं जोर देना चाहता हूँ वह है विधान-परिषद के प्रति हमारा रुख। एक विपक्षी महानुभाव ने एक संशोधन बहुत छोटा सा पेश किया है। वे एक शब्द बढ़ाना चाहते हैं और वह शब्द है अविलम्ब उनकी बात बहुत ही नम्र और मधुर प्रतीत होती है और वे चाहते हैं कि हम उसे मान लें। परन्तु यदि आप ध्यान से देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि यह संशोधन उतना सरल नहीं है जितना प्रतीत होता है। इस एक शब्द से ही उस सारे मर्म पर पानी फिर जायगा जो इस प्रस्ताव के पीछे है। हम यह नहीं

चाहते कि संविधान सभा ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट द्वारा बुलाई जाय। हम ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट से अपने आर्थिक और राजनैतिक ढाँचे के निर्माण में कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। इसलिए श्रीमन् मैं यह बता दूँ कि संविधान सभा एक ऐसी वस्तु है जो अर्द्ध क्रान्ति की अवस्था में ही बनाई जा सकती है। हमें ऐसी सभा चाहिये जो जनता की इच्छा को कार्यान्वित कर सके और यह तभी सम्भव है जब हम ब्रिटिश गवर्नमेंन्ट के प्रभुत्व से मुक्त हो जाँय। हमें जनसमुदाय को संगठित करके परिचालित करना है जिससे हम एक अहिंसात्मक क्रान्ति करने में सफल हो सकें। उस क्रान्ति के पश्चात् संविधान सभा का आह्वान होगा। संविधान सभा वह सभा है जिसमें विधान को बनाने और परिवर्तित करने की शक्ति हो। उस शक्ति को हम उत्पन्न करना चाहते हैं जिससे जनता की मांग निर्बाध हो जाय और दूसरों के द्वारा ठुकराई न जा सके। हम ब्रिटिश गवर्नमेंन्ट से कोई मांग नहीं करते। हम तो ब्रिटिश गवर्नमेंट को चेतावनी देते हैं कि भविष्य में हमारा नारा संविधान सभा का होगा और संविधान सभा भारतवासियों की महत्वाकांक्षाओं का मूर्तरूप है। हम सरकार को यह बता देना चाहते है कि हम इस क्रांतिकारी पथ पर चलना चाहते हैं और इससे तनिक भी इधर उधर हिलना नहीं चाहते। मैं जानता हूँ श्रीमन कि बहुत से तत्वों के कारण वादविवाद में कुछ अवास्तविकता आ गई है और मैं मानता हूँ कि सरकार का भी उसमें भाग रहा है। मैं इस मामले मैं सरकार की कठिनाइयों का भली भाँति अनुमान लगा सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि सरकार की अपनी सीमायें हैं। उसको बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। अनेक अवसरों पर उसे बहुत संयम से काम लेना पड़ता है। उसे नर्मी और मधुरता अपनानी पड़ती है और अनेक हितों को संतुष्ट करना पड़ता

है। उसे अपने विरोधियों का विश्वास भी प्राप्त करना पड़ता है। स्थान का प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य है। आपने श्रीमन सरकार को इस भवनकी दाँयी ओर दिया है। यह दाँया भाग सदैव उन व्यक्तियों से सम्बन्धित रहा है जो परम्परा से विशेषाधिकार-युक्त वर्गों के मित्र रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गवर्नमेंन्ट पर इस नवीन वातावरण का प्रभाव पड़ गया है। परन्तु कांग्रेस के साधारण कार्यकर्त्ताओं पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं है। मुझे इस मामले में विरोधी पक्ष का रुख कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं लगता। पुरानी राष्ट्रीय-कृषक पार्टी सदैव से प्रतिक्रियावादी रही है। उसने जनता को बहकाने का प्रयत्न किया परन्तु जनता उसके बहकाने में आई नहीं। नवाब सर मुहम्मद यूसुफ ने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ब्रिटिश कामनवैल्थ में परिणत किया जा सकता है। परन्तु यह कार्य होना उतना ही असम्भव है जितना ताल्लुकेदार को सच्चा कृषक बना लेना। बड़े जमीदारों ने पार्टी का यह नाम यह सोचकर रखा था कि यह बड़ा ही शुभ नाम है और इससे उनका मतलब अच्छी तरह सिद्ध हो सकेगा। परन्तु उनकी आशायें धूल में मिल गईं और चुनावों मे उनकी भारी हार हुई। उनकी राजनैतिक हैसियत का दिवाला निकल चुका है और मुझे उनके साथ सहानुभूति है। श्रीमन आपने उनके लिए इस हाउस में स्थान नियत करने में उदारता दिखाई है। उन्हे बायीं ओर बिठाया गया है जहाँ सदैव से जनता के अधिकारों के लिए लड़नेवाले बैठते आये हैं। आपने जनता की दृष्टि में उन्हें फिर से बसाने का पूरा प्रयत्न किया है परन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने न तो वातावरण से कुछ सीखा है और न नवीन स्थिति से लाभ उठाया है। वे जनता के अधिकारों के विरोधियों के रूप मे स्पष्टतः सामने आ गये हैं। मैं देखता हूँ कि राष्ट्रीय कृषक-पार्टी का स्वतंत्र पार्टी के

रूप में नया नामकरण हुआ है। क्या मैं इस पार्टी से अपने नाम के अनुरूप बनने का अनुरोध कर सकता हूं उन्हें भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में वोट देनी चाहिये जिसका तात्पर्य है ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि यदि वे भारतीय राजनीति में सक्रिय शक्ति बनना चाहते हैं और यदि वे चाहते हैं कि राष्ट्र की मन्त्रणाओं में उनकी सम्मति का महत्व हो, तो उन्हें प्रगति के पक्ष में सम्मिलित हो जाना चाहिये। हम सब उनका स्वागत करेंगे। हम उनसे इस नवीन मार्ग पर द्रुतगति से अग्रसर होने की आशा नहीं करते। हम तो इतने ही से सन्तुष्ट हो जायेंगे यदि वे निर्दिष्ट पथ पर धीमे धीमे कदम बढ़ाते चलें हम जानते हैं कि उन्होंने कुछ प्रगति तो करली है। चुनावों की आवश्यकताओं से बाध्य होकर एक पग आगे तो वे बढ़ चुके हैं। मैं चाहता हूं कि वे कुछ और भी आगे बढ़ें। श्रीमान मैं उन्हें यह बताना चाहूंगा कि इस देश में एक नवीन विचार का जन्म हो चुका है और वह यहाँ जमने के लिए ही उपजा है। उसका बचपन बीत चुका है और यौवन का विकास हो रहा है। वह जीवित रहेगा और अच्छी तरह रहेगा। क्योंकि वह सामाजिक विचार है, अतः वह शीघ्र ही पूर्ण होना चाहेगा। इसलिए यदि वे प्रगतिशील समय में रहना चाहते हैं तो उन्हें उनके साथ सम्मिलित हो जाना चाहिये जो आजादी के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो अपना रास्ता अलग चुन लें परन्तु उन्हें किसी भी दशा में हमारे रास्ते का रोड़ा नहीं बनना चाहिए। नबाब सर मुहम्मद यूसुफ ने कहा है कि समाजवाद विदेशी चीज है और इसलिये उसका बहिष्कार किया जाना चाहिये। परन्तु जनतन्त्र का विचार भी विदेश से आया है और हमने उसे आँख बन्द करके मान लिया है। हम ब्रिटेन की पार्लियामेंन्टीय प्रणाली के अन्धभक्त हैं और एक

त्तण के लिए भी यह नहीं सोचते कि यह हमारी भूमि में पनपा हुआ पौधा नहीं है बल्कि एक विदेशी उपज है। अब पश्चिम में तो उस प्रणाली में आमूल परिवर्तन की माँग की जा रही है, परन्तु हम उसमें परिवर्तन करते हुए और नवीन मार्ग अपनाते हुए हिचकते हैं।

श्रीमन्, यह कहा गया है कि इस प्रान्त के जमींदार सब सद्गुणों की खान हैं। उन्होंने देश और जनता के लिए बहुत त्याग किया है। वे जनता के माँ बाप होने का दावा करते हैं। परन्तु अब तो वे परित्यक्त हैं, और जन-समुदाय का स्वभावतः नेतृत्व करने का उनका दावा झूठा सिद्ध हो चुका है। कृषकवर्ग ने वस्तुतः घोषित कर दिया है कि उसका उनमें कोई विश्वास नहीं है। जनता उठ खड़ी हुई है और इन तालुकेदारों और बड़े-बड़े ज़मींदारों का परम्परागत प्रभुत्व प्रायः समाप्त हो चुका है। जब जमींदार हमसे अपने विशेषाधिकारों को ज्यों के त्यों बिना किसी हेर फेर के रहने देने की माँग करते हैं तब वे सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि उनका उद्गम कैसे हुआ। वे तो ब्रिटिश शासन के बनाये हुए पुतले हैं। अवध जागीर ऐक्ट में जिसके अनुसार अवध के तालुकेदारों को सिपाही-विद्रोह के पश्चात् जागीरें दी गई थीं गवर्नमेंट की सेवा-भक्ति करने की शर्त्त उन पर लगाई गई थी। मैं तो सनदों को गुलामी के पट्टे समझता हूं। वे भले ही उन्हें गौरव की वस्तु समझें। स्वयं एक्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कृषकों को ज्यादती से बचाने का सरकार को अधिकार होगा। यदि हम जमींदारों के हितों के रक्षक बनें तो क्या लाखों की जनता के हितों के रक्षक न बनें? अतः हम कोई ऐसा आश्वासन नहीं दे सकते कि जमींदारों के विशेषाधिकारों को अछूता छोड़ दिया जायगा। । हम आने वाले लोगों के हाथ

नहीं बांधना चाहते। ऐसा प्रयास करना भी हमारे लिए व्यर्थ होगा। कलकत्ते के अर्धगोरे दैनिक स्टेट्समैन ने जो कॉग्रेस-पक्षपाती नहीं है, कहा है कि इस देश की भूमि-व्यवस्था पृथ्वी पर की सबसे बड़ी विषमता है। हम यथासम्भव शीघ्र इस विषमता से छुटकारा पाना चाहते हैं।

अब श्रीमन्. मैं कुछ शब्द उस संशोधन के विषय में कहूंगा जो मुस्लिम लीग पार्टी की ओर से प्रस्तुत किया गया है। मैं जानता हूं श्रीमन्, और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इस देश के विभिन्न सम्प्रदाय, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, अपने संकीर्ण और साम्प्रदायिक हितों का अधिकाधिक ध्यान रखते हैं और उन विस्तृत प्रश्नों पर कभी विचार नहीं करते।

शेख मुहम्मद हबीबुल्ला : उन धनियों और बौहरों के विषय में आप क्या कहते हैं जो काँग्रेस में हैं ?

आचार्य नरेन्द्रदेव : मैंने इस विषय में काफी सुन रखा है और मैं जानता हूं कि जमींदार लोग बौहरों के सिर कृषकों की दुर्दशा का सारा दोष मढ़ कर उससे बरी होना चाहते हैं। यह मैं मानता हूं कि किसानों के कुछ कष्टों का कारण बौहरों का कठोर बर्त्ताव है। कहा जाता है कि भारतीय किसान कर्ज के भार से दबा हुआ पैदा होता है, कर्ज में जीवन भर रहता है और अन्त में कर्ज से लदा हुआ ही मर जाता है। परन्तु इस मामले में भूमिपतियों की जो भारी जिम्मेदारी है उससे मैं उन्हें मुक्त करने को तय्यार नहीं हूं। भूमिपति कहते हैं कि बौहरे और सूदखोर ही जनसमुदाय की वर्तमान गरीबी के एकमात्र कारण हैं, और स्वयं वे उसके उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं। दूसरों के मत्थे अपना सारा दोष

मढ़ देना बिलकुल आसान है परन्तु ईमानदारी का तकाजा है कि प्रत्येक वर्ग साफ-साफ वस्तुस्थिति को देखे और अपना उत्तरदायित्व स्वीकार कर ले। मैं अपने मुस्लिम लीगी मित्रों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूं कि हमें अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का उतना ही ध्यान है, जितना उन्हें हो सकता है। मेरे विचार से बहुसंख्यक समुदाय का यह कर्त्तव्य है कि वह अल्पसंख्यकों का विश्वास प्राप्त करे। मै सोचता हू श्रीमन कि बहुसंख्यक दल के लिए यह सोच कर रह जाना ही काफी नहीं है कि वह अल्पसंख्यकों के प्रति न्याय कर रहा है; बल्कि उसका कर्त्तव्य यह भी है कि वह अल्पसंख्यकों में यह विश्वास पैदा कर दे कि उनके साथ न्याय हो रहा है। मै तो और भी एक कदम आगे बढ़ कर कहूंगा कि बहुसंख्यकों का कर्त्तव्य अल्पसंख्यकों के प्रति उदारता दिखाना है। मै आपको यह यकीन दिला दूं कि हम कॉंग्रेसीजन किसी प्रकार के जाति, धर्म और रङ्ग के भेद नहीं मानते। इन भेदों का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। हम अल्पसंख्यकों के अधिकारों को स्वीकार करते हैं और उनके हितों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते है। परन्तु भविष्य की सन्तति के लिए अभी से नियम निर्धारित करने की सोचना अनुचित और अनावश्यक है और इस विषय में उनकी उद्विग्नता का ही परिचायक है। क्या आप भविष्य के मुसलमानों के हाथ बॉध सकते हैं? मैं अपने मित्रों को यह जता दूं कि आज इस्लामी दुनियां में बड़ी उथल पुथल हो रही है। इस्लामी देश अपना ढॉचा जाति और राष्ट्रीयता के आधार पर खड़ा कर रहे हैं। समस्त इस्लामी संसार पर पश्चिम के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा है और पुरानी मध्य युगीय संस्थाओं को हटा कर सब जगह आधुनिक संस्थाओं का

निर्माण किया जा रहा है । मुझे यकीन है कि मेरे विपक्षी मित्र इस बात को बहुत बुरा समझते हैं, परन्तु क्या इसकी कोई गारण्टी है कि भारत के मुसलमान कभी भी अपने जीवन का ढङ्ग बदलने की आवश्यकता का अनुभव न करेंगे। हो सकता है कि भावी भारत की मुस्लिम सन्तानें इस्लामी संसार के प्रगतिशील विचारों को अपना लें, और सम्पूर्ण देश के लिए एक से कानून की माँग करें। क्या मेरे विपक्षी मित्र भविष्य के हिन्दू अथवा मुस्लिम प्रतिनिधियों को जनता की भावनायें ध्वनित करने और उनको क्रियात्मक रूप देने से रोक सकेंगे? परन्तु हाँ यदि मुसलमान ऐसा ही चाहते हों कि उनके लिए वैसा कागजी कानून बना दिया जाय, तो उनकी भावनाओं का अवश्य ध्यान रक्खा जायगा। इसलिए मैं अपने मुस्लिम दोस्तों से कहूंगा कि संशोधन प्रस्तुत करने से पहिले वे दो बार नहीं तीन बार सोच लें।

एक सदस्य : क्या विधान सभा की बैठक पाँच-सात पीढ़ियाँ बीत जाने पर होगी अथवा कब? मैं तो समझता हूं कि निकट भविष्य में ही उसका अधिवेशन होना सोचा जा रहा है।

आचार्य नरेन्द्रदेव : हाँ, निकट भविष्य में ही; परन्तु कोई नहीं कह सकता कि वह भविष्य कब आयेगा।

जहाँ तक निर्वाचन के ढङ्ग का प्रश्न है, जो मुस्लिम लीग के संशोधन के दूसरे भाग का विषय है, मैं समझता हूं कि वह मुसलमानों के एक बहुत ही छोटे हिस्से के हित में उठाया गया है। केवल उच्च श्रेणी के लोगों को ही इस मामले में दिलचस्पी है। परन्तु जहाँ उनके हितों की दृष्टि से प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है, वहाँ वे भी दूसरी तरह सोचने लगे हैं। श्रीमन्, मैं यह कह सकता हूं—और सम्भवतः यह एक साहसपूर्ण भविष्यवाणी

है--कि कुछ ही सालों में आप देखेंगे कि जिन प्रान्तों में मुसलमानों की संख्या अधिक है, वहाँ के मुसलमान संयुक्त निर्वाचन की मांग करेंगे और वहां के हिन्दू उसका विरोध करेंगे। आज भी इस प्रकार के शुभ लक्षणों की कमी नहीं है। पञ्जाब को लीजिये--वहाँ का मुस्लिम प्रधानमन्त्री क्या कर रहा है? वह संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के अत्यधिक पक्ष में है, और उस दिशा में प्रयत्नशील है इसलिए मैं विनयपूर्वक कहता हू कि संशोधन का यह भाग मुस्लिम जन समुदाय के हित में न होकर, उच्च श्रेणी के मुसलमानों के हित में है जो आज सम्पूर्ण मुस्लिम जनता पर आधिपत्य जमाये हुए हैं। मैं सभा का और अधिक समय न लूँगा। क्योंकि मुझे डर है कि मैंने पहिले ही आवश्यकता से अधिन समय ले लिया है।

माननीय अध्यक्ष : मैं माननीय सदस्य को याद दिलाना चाहता हू कि वे तीस मिनट ले चुके हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव : असल में विरोधी पक्ष के लोग पूर्ण स्वतन्त्रता से इसलिए डरते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि या तो राज्य का सम्पत्ति पर आधिपत्य हो सकता है, या सम्पत्ति का राज्य पर। हम देखते हैं कि इस समय सम्पत्ति राज्य के ऊपर आधिपत्य जमाये हुए है। इस सम्पत्ति के अधिकार को वे पावन समझते हैं और इसमें कोई हेर-फेर करने देना नहीं चाहते। यही कारण है कि वे भारत का ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सम्बन्ध हर हालत में बनाये रखना चाहते हैं, और उसे तोड़ना नहीं चाहते। जब कि उच्च श्रेणी के मुसलमानों का यह रवय्या है, बेचारी मुस्लिम जनता कर्ज़, गरीबी और अधःपतन के दलदल में फँसी हुई है, और हम उसे उस शोचनीय अवस्था में

से निकालना चाहते हैं। इस समस्या का हल यह है कि विस्तृत मसलों के लिए आज़ादी प्राप्त की जावे, और यह तभी सम्भव है जब राज्य जन समुदाय के हित में उत्पादन के साधनों को अपने हाथ में ले। हमारी दृष्टि में वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार कोई पावन वस्तु नहीं है। यदि मुस्लिम जनता का जीवन-स्तर ठीक करना है तो वैयक्तिक सम्पत्ति की अक्षुण्यता में उचित हेर-फेर करने पड़ेंगे, और इस मामले में खुले हाथ रखने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता एक नितान्त आवश्यक वस्तु है। श्रीमन्, इन थोड़े शब्दों के साथ, मैं सभा की स्वीकृति के लिए इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूं।

---

# आजादी की लड़ाई

## [ ३ ]

## सङ्कट-काल के पाठ (१९३८)

हमारे दृष्टिविन्दु से न तो हाल का वैधानिक सङ्कट अवांछनीय था और न उसका टल जाना। उनसे हमारे विचारों की तो पुष्टि होती है।

हमने प्रारम्भ से ही कहा है कि यदि कांग्रेस इस विधान को क्रांतिकारी ढङ्ग से अपनी शक्ति बढ़ाने के काम में लाना चाहे यदि वह सुधारवादी संस्थाओं के समान कार्य करना हेय समझे, तो इस प्रकार सङ्कट और टक्करें अवश्यम्भावी हैं। और हमने सदैव इस बात पर जोर दिया है कि ऐसी स्थिति में हमारी सफलता हमारी संगठन-शक्ति की और हमारे द्वारा जगाई हुई जन-चेतना पर निर्भर करेगी।

इस सङ्कट से उन लोगों की आँखें खुल जानी चाहियें जो पार्लियामेण्टरी हलचलों के लम्बे समय का स्वप्न देख रहे थे। हमारे पास अब इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को स्वतन्त्रता से कार्य करने देना नहीं चाहती।

ब्रिटिश सरकार ने अनुभव कर लिया है कि कांग्रेस से समझौता कर लेने से उसकी कठिनाइयां कम नहीं होतीं।

साम्राज्यवादी फैडरेशन का विरोध सदैव का सा दृढ़ बना हुआ है। ब्रिटिश बादशाह का भारत-भ्रमण जिसके बड़े ढोल पिट रहे थे, उसे बार-बार स्थगित करना पड़ा। देश में कांग्रेस के वामपक्ष का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ रहा है। अतः गवर्नमेण्ट कांग्रेस को पदों पर आरूढ़ रखने के लिए उत्सुक नहीं है।

ब्रिटेन के पूँजीवादी शासकवर्ग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पहिली जैसी सङ्कटपूर्ण नहीं है। इटली के मना लेने से भूमध्य-सागर का भय कम होगया है। इसलिए भारत का वैधानिक सङ्कट ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए विशेष चिन्ता का कारण नहीं हुआ।

परन्तु जिस मामले को लेकर सङ्कट खड़ा किया गया था, उससे साम्राज्यवाद की प्रतिष्ठा की रक्षा होनी कठिन थी, और इसलिए उसे अन्त में झुकना पड़ा। उस मामले में अन्य राजनीतिक पार्टियाँ भी कांग्रेस के साथ थीं। यहाँ तक कि तालुकेदार भी अन्तरिम मंत्रिमंडल बनाने की हिम्मत न कर सके क्योंकि वे जानते थे कि उनके लिए कर वसूल करना असम्भव होगा और सम्भवतः उन्हें किसी गम्भीर स्थिति का सामना करना पड़ेगा।

संसार का मत भी उस प्रश्न पर कांग्रेस के साथ था। वायसराय ने सन् १९३५ के भारतीय एक्ट की धारा १२६ (५) का जो आश्रय लिया उसका कोई अवसर न था, क्योंकि राजनीतिक बन्दियों की रिहाई से देश की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए गम्भीर सकट उपस्थित होने का तनिक भी भय न था।

अन्त में गवर्नमेन्ट को झुकना पड़ा और कांग्रेस की बात माननी पड़ी। परन्तु सङ्कट के इस प्रकार शान्तिपूर्वक टल जाने

का अर्थ यह नहीं है कि भविष्य में काँग्रेस और गवर्नमेंट के सम्बन्ध अच्छे रहेंगे। उल्टे, इससे यह लक्षित होता है कि गवर्नमेंट किसी अच्छे मौके की ताक में है और इस बार जो सङ्कट खड़ा किया जायगा वह अधिक गम्भीर और विस्तृत होगा। नये विधान में सङ्कट निहित है। उसके प्रति हमारे रवय्ये के कारण और भारत और ब्रिटेन के वर्तमान सम्बन्धों के कारण ऐसी टक्कर होना अवश्यम्भावी है।

परन्तु ऐसे वैधानिक सङ्कट का पर्याप्त उपयोग तभी हो सकता है जब कांग्रेस की पार्लियामेन्टीय और अन्य हलचलें जनता मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने के काम में लाई जावें। दूसरे शब्दों में, जनसमुदाय को उसकी आर्थिक मांगों के आधार पर संगठित किया जाना चाहिये, और उसकी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति को इस हद तक बढ़ाना चाहिए कि वह साम्राज्यवाद से निर्णयात्मक युद्ध करने के लिए उतारू हो जाय।

कांग्रेसी मन्त्रियों को इस सङ्कट से सबक लेना चाहिये और ऊपर बनाई हुई दिशा मे कार्य करना चाहिए। ऐसा न हो कि गवर्नमेण्ट हमें बेखबर ही दबोच ले, और ऐसे समय में हमें संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दे जब हम उसका सामना करने के लिए तय्यार न हों। इसलिए कांग्रेस को अपना धारामभांई कार्यक्रम तेजी से पूरा करना चाहिए।

वामपक्षियों ने जो जागृति देश में पैदा की है, उसका भी हाल के इस सङ्कट को दूर करने में पर्याप्त भाग रहा है। ऐन मौके पर वामपक्ष कांग्रेसी नेतृत्व के साथ होगया, और उसने एकता का ऐसा शानदार प्रदर्शन किया कि साम्राज्यवादियों के छक्के छूट गये।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि कांग्रेस के कुछ हिस्से वामपक्ष की गति-विधियों के बारे में कुछ गलत धारणाएँ बनाये हुए हैं। आज कांग्रेसी नेता जन-आन्दोलनों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना वामपक्षी देते हैं। परन्तु उन्हें अनुभव करना चाहिए कि यदि कांग्रेस के पीछे जागृत जन-शक्ति न होती, तो यह सङ्कट इतनी सरलता से न टल जाता। यदि जनता को शक्ति-सम्पन्न बनाने की ओर ध्यान केन्द्रित न किया गया, तो कांग्रेस आने वाले सङ्कटों और संघर्षों का समुचित सामना न कर सकेगी। कांग्रेसी नेतृत्व की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह जनता की संगठित शक्ति बढ़ाने के लिए सभी साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को एकत्रित करे।*

---

* संयुक्तप्रान्त और विहार के गवर्नरों ने अपने मन्त्रिमण्डलों को राजनीतिक बन्दियों की रिहाई नहीं करने दी। इससे एक राजनैतिक सङ्कट खड़ा हो गया। इस पर यू० पी० के प्रधानमन्त्री पं० गोविन्द बल्लभ पन्त और विहार के प्रधानमन्त्री बा० श्रीकृष्णसिंह ने अपने मन्त्रिमण्डलों के स्तीफे पेश कर दिये। यह बात फरवरी सन् १९३८ में हुए कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के समय हुई थी। आचार्य नरेन्द्रदेव का लेख जो कांग्रेस समाजवादी साप्ताहिक के ५-३-१९३८ के अङ्क में निकला था, इसी अवसर पर लिखा गया था।

—सम्पादक।

# आजादी की लड़ाई

## [ ४ ]

## रियासती जनता से (१६१६)

[आचार्य नरेन्द्रदेव ने गुजरात के पञ्चमहल परगने में दोहद के स्थान पर १४ और १५ मई सन् १६३६ को हुई मध्यभारतीय रियासती जनता की कान्फरेंस का सभापतित्व किया। श्री कमलशङ्कर पांण्ड्या स्वागत-समिति के प्रधान थे।

ग्वालियर, इन्दौर, रतलाम, उज्जैन, राजगढ़, भोपाल बड़नगर और मध्यभारत की अन्य रियासतों के विभिन्न प्रजामण्डलों के प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे।

हजारों व्यक्तियों ने कान्फरेंस में भाग लिया, किसानों के जत्थे दूर-दूर से पैदल और बैलगाड़ियों में पर्चे और इश्तहार लिए हुए आये। आचार्य नरेन्द्रदेव १६० मिनट तक सहज स्फुरण से बोले। उनके भाषण में से कुछ अवतरण यहाँ दिये जाते हैं।

—सम्पादक]

मै आप सबों को धन्यवाद देता हूँ कि आपने शेष भारत से पिछड़ी हुई मध्यभारत की डेढ़ करोड़ जनता की सेवा करने का अवसर मुझे दिया।

इन रियासतों में अत्याचार और नृशंसता के अनेक उदाहरण मुझे मिले हैं। रियासती जनता की यह कठिन समस्या अब इस अवस्था पर पहुँच गई है कि ब्रिटिश भारत के लोग अपने स्वातंत्र्य

संघर्ष में बिना रियासती जनता को साथ लिए आगे नहीं बढ़ सकते। रियासतों ने दमन से काम लिया है और गोलियाँ भी चलवाईं हैं। कान्फरेंस के प्रतिनिधियों को गिरफ्तार किया गया है और इन्दौर ने एक ऐसी आज्ञा निकाली है जिसके परिणामस्वरूप श्री० सुभाष बोस इन्दौर जाने से रुक गये। राजा लोग ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथी है। कृत्रिम बाधाएँ सदा नहीं रह सकतीं। स्वतन्त्रता की लड़ाई सबकी है, और राजनैतिक दृष्टि से भारत एक और अविभाज्य है। रियासतों के बारे में कांग्रेस की नीति उत्तरोत्तर अधिक विकसित होती जा रही है और जो कांग्रेसी रियासती जनता के संघर्ष में भाग ले रहे हैं, उनके लिए त्रिपुरी प्रस्ताव स्पष्ट ही एक आगे बढ़ा हुआ कदम है। रियासती जनता यदि कांग्रेस कार्यसमिति से एक रियासती उपसमिति रखने की आशा करे, तो उचित ही है। कॉंग्रेस का झण्डा रियासती जनता का भी झण्डा है, और वह ब्रिटिश शासन और सामन्तशाही स्वेच्छाचारिता से उसकी मुक्ति का प्रतीक है। मुझे हर्ष है कि आपने उसे अपना लिया है। कांग्रेस के संघर्ष में रियासती जनता का सम्मिलित हो जाना कांग्रेस की शक्ति का द्योतक है। परन्तु कांग्रेसी सरकारों के सामने कठिनाइयां और पेचीदा समस्यायें आ रही हैं, और उनके कारण कांग्रेस मित्रों और विरोधियों की आलोचनाओं और आक्षेपों का लक्ष्य बन गई है। कांग्रेस के कार्य में जो कमियाँ हैं उनका कारण यह है कि उसके पास पूर्ण और वास्तविक सत्ता नहीं है। अतः जनता को साम्राज्यवाद से लड़ने, इस दासतापूर्ण विधान का विध्वंस करने, छः सौ के लगभग रियासतों की जनता को मुक्त करने और पूर्ण सत्ता पर अधिकार करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये।

रियासती जनता को आने वाले युद्ध के लिए धन-जन से

सहायता देने से साफ इङ्कार कर देना चाहिये। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट अपने युद्ध-उद्देश्यों में राजाओं को सहायता देने के लिए बाध्य करेगी तब रियासती जनता को संगठित हो कर अपने अखबारों और अन्य प्रचार साधनों के द्वारा, और कांग्रेसियों की सहायता से स्वेच्छाचारी एकतन्त्र से लोहा लेना चाहिए। छोटी रियासतों को ब्रिटिश प्रान्तों में मिला देने का लुधियाना प्रस्ताव बहुत महत्वपूर्ण है, और सम्पूर्ण रियासती जनता को उसका समर्थन करना चाहिये और फैडरेशन के विरुद्ध लगाये गये मोर्चे में सम्मिलित हो जाना चाहिए। हमको जमींदारी प्रथा और राजाशाही को मिटा देने की मांग करनी चाहिए।

कांग्रेस में कुछ नवीन व्यक्ति इस आशा से भरती हुए हैं कि कांग्रेस समाजवाद के विरुद्ध एक सुदृढ़ दुर्ग सिद्ध होगी। कुछ स्वार्थी गुट्टों और निहित हितों (vested interests) ने गांधीवाद का चोगा पहिन लिया है। कांग्रेस जिन जन-संघर्ष के आदर्शों को लेकर चली है उससे उन्हें कोई मतलब नहीं। ये व्यक्ति कांग्रेस की गतिविधि को प्रतिक्रियात्मक रङ्ग देने का प्रयत्न कर रहे हैं, और यही कारण है कि कांग्रेस में हम इतने दल और ब्लॉक बनते देखते हैं। परन्तु इन सभी समूहों को ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा लेना चाहिए जैसा जापानी आक्रांता के विरुद्ध चीन में हो चुका है। हमारा आदर्श एक ऐसे समाज का होना चाहिये जिसमें शोषण, बेकारी और भुखमरी न हो। वह समाज वर्गविहीन होगा। इस कान्फरेंस को दलितों और पीड़ितों के लिए और एक ऐसी राज्य-व्यवस्था के आदर्श के लिए संघर्ष करना चाहिए जिसमें वर्ग-प्रभुत्व और शोषण न हो।

# आजादी की लड़ाई

## [ ५ ]

## कांग्रेस का विधान

[कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति के साथ उसमें अच्छे पद प्राप्त करने की कशमकश स्वभावतः बढ़ गई है। उसमें गुटबन्दी अधिक सक्रिय हो गई है और खींचातानी का जोर बढ़ गया है। संस्था को भ्रष्ट और अवांछनीय सदस्यता से बचाने के लिए कांग्रेस से त्रिपुरी अधिवेशन में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दिया गया कि वह सदस्यता चुनाव इत्यादि सम्बन्धी सब मामलों में खराबियों को दूर करने के लिए विधान में परिवर्तन के साथ साथ अन्य आवश्यक कदम उठाइये।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई गई कमेटी के सदस्य कांग्रेस के प्रधान और महामन्त्री के अतिरिक्त पंडित जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव और डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया थे।

कमेटी की बैठक बम्बई में ३ से ७ जून १९३९ तक हुई और उसने अपना कार्य समाप्त कर दिया। उसने कांग्रेस के विधान को संशोधित और परिवर्धित करने के अनेक सुझाव रखे जिनमें से कुछ तो उन उद्देश्यों से भी आगे बढ़ गये जिनकी पूर्ति के लिए कमेटी बनाई गई थी। इनमें से कुछेक सुझावों के कारण यह भय था कि राजनैतिक अल्पमतों को कांग्रेस से हट जाना पड़ेगा। परिवर्तन के अन्य सुझावों में एक यह भी था कि कांग्रेस कार्यसमिति को

आविष्कार किया कि यदि नवीन भारतीयों को ट्रान्सवाल में आने से रोकना है तो हरएक पुराने भारतीय को दर्ज करने की कोई ऐसी तरकीब निकाली जाय जिससे एक के बदले दूसरा प्रवेश पा न सके और अगर आ भी जाय तो फौरन् पकडा जाय। अंगरेजी सत्ता की स्थापना के बाद जो परवाने निकाले गये थे उनमें भारतीयों के दस्तखत या अंगूठे की निशानी ली जाती थी। बाद किसीने सूचित किया कि ठीक तो यह होगा कि हरएक भारतीय की तस्वीर ही खींच ली जाय। इसलिए यों ही दस्तखत, अंगूठे की निशानी और तस्वीरें खिचना भी शुरू हो गया। इसके लिए किसी कानून की आवश्यकता तो थी ही नहीं, नहीं तो नेताओं को फौरन् खबर न हो जाती? धीरे धीरे इन नवीन योजनाओं के समाचार फैले। कौम के तरफ से सत्ताधिकारियों के पास पत्र गये। डेप्यूटेशन भी पहुंचे। अधिकारियों की तो यही दलील थी कि हम इस बात को तो बरदाश्त नहीं कर सकते कि चाहे जो आदमी जिसतरह चाहे, यहां घुस आवे। इसलिए तमाम भारतीयों के पास यहां रहने के परवाने एक ही किस्म के होना चाहिए और उनमें इतनी बातें लिखी होना चाहिए कि उसके आधार पर केवल उनका मालिक ही यहां आने पावे अन्य कोई नहीं। मैने सलाह दी कि यह कानून तो यहां नहीं कि जिसके बल पर ये हमें ऐसे परवाने रखने के लिए बाध्य कर सकते हों, तथापि जहांतक सुलह को संरक्षित रखने का कानून मौजूद है तबतक तो वे हमसे परवाने जरूर मांग सकते हैं। भारत के "डिफेन्स ऑफ इण्डिया" ऐक्ट–भारत रक्षा विधान के ही जैसा कानून दक्षिण आफ्रिका में सुलह–रक्षा के लिए भी बनाया गया था। और जिस प्रकार भारत में वह भारत–रक्षा–विधान बहुत ज्यादह समय तक केवल

प्रजा-पीडन के लिए ही रक्खा गया था ठीक वैसे ही आफ्रिका में उस सुलह रक्षा-विधान को महज भारतीयो को सताने के लिए अधिक समय तक रख छोडा था। गोरों पर तो प्राय: उसका अमल होता ही न था। अब अगर यही निश्चित हुआ कि परवाने लेना ही चाहिए तो उनमें पहचानने के लिए भी तो कोई निशानी चाहिए न? इसलिए यह बराबर है कि जो दस्तखत न कर सकते हों उन्हें अपने अंगूठे की निशानी लगानी चाहिए। पुलिसवालों ने एक यह आविष्कार किया है कि किसी भी दो आदमियों के अंगूठों की रेखायें कभी एकसी नहीं होती। उनके स्वरूप और संख्या का उन लोगों ने वर्गीकरण भी किया है। इस शास्त्र का जाननेवाला दो अंगूठों के छाप की तुलना कर के एक ही दो मिनट के अंदर कह सकता है कि वे दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के हैं या एक ही के। तस्वीरें खींचने देने की कल्पना मुझे तो जरा भी पसंद नहीं थी। और मुसलमानों की दृष्टि से तो उसमें धार्मिक बाधा भी थी। आखिर हम इस निश्चय पर पहुंचे कि हरएक भारतीय अपने पुराने परवाने लौटा कर नवीन योजना के अनुसार बनाये परवाने ले लें और नवीन आनेवाले भारतीय नवीन परवाने ही लें। भारतीय इस बात के लिए कानून की दृष्टि से जरा भी बाध्य नहीं किये जा सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्वेच्छापूर्वक यह करना इसलिए ठीक समझा कि उनपर कहीं दूसरे अंकुश न रक्खे जावें, दूसरे, वे कपटपूर्वक किसीको वहां बुलाना नहीं चाहते इसे वे सिद्ध कर सकें और तीसरे रक्षा-विधान का उपयोग नवीन आनेवाले भारतीयों को सताने के लिए न होने पावे। यह कहा जा सकता है कि लगभग तमाम भारतीयों ने ये परवाने ले लिये थे। यह कोई ऐसी वैसी बात न थी। जिस बात के लिए कानून

कांग्रेस के भीतर जो विभिन्न राजनैतिक दल हैं, उन्हें कांग्रेस की नीति को प्रभावित और निर्मित करने की पूर्णतम सुविधा होनी चाहिए। चूँकि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी खुले अधिवेशन की कमेटी की तरह भी कार्य करती है, अतः नया नियम लागू होने पर, आज के अल्पसख्यक राजनीतिक दल कांग्रेस के निर्णयों को प्रभावित करने की स्थिति मे न रहेंगे। इस बात से कि एक तिहाई सीटें वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली से भरी जाती रहेंगी, स्थिति में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं पड़ता।

साम्प्रदायिक अल्पसंख्यक भी वर्तमान नियम का लाभ उठा कर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में किंचित प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु वर्तमान प्रणाली के अधिकांश रूप में बदल जाने पर उनके लिए भी कांग्रेस कमेटी में कहने लायक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना सम्भव न होगा।

यह बताया गया है कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की वर्तमान निर्वाचन प्रणाली में कुछ बुराइयां हैं जिनका सुधार आवश्यक है। मेरी सम्मति में, प्रणाली को वस्तुतः अक्षुण्ण रखते हुए, इन खराबियों का ठीक करना कठिन नहीं है।

फिर, यह किसी ने भी नहीं कहा है कि वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली से कांग्रेस में कोई भ्रष्टाचार फैला है।

———

: ५ :

# समाजवादी एकता की समस्यायें

(१९३८)

# समाजवादी एकता की समस्यायें (१६३८)

समाजवादी एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा बनाना चाहते हैं, जिसमें देश स्वाधीन हो सके और उसमें एक ऐसा लोक-तन्त्र स्थापित किया जा सके जिसमें जनता का आर्थिक जीवन समाजवादी आधार पर संगठित हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समाजवादी पंक्तियों में एकता की आवश्यकता है—विशेषकर वर्तमान कठिन समय में जब कि राष्ट्रीय आन्दोलन एक नवीन दिशा अपना रहा है, जब कि पीडित और शोषित जन समुदाय को एक विराट हमले की तैयारी करनी है, और जब कि कांग्रेसी नेतृत्व का एक भाग वामपक्ष को दबाने के लिए उस पर आघात कर रहा है। अब इस एकता के प्रश्न को और आगे के लिए टालना सम्भव नहीं है।

कांग्रेस-समाजवादी पार्टी ने प्रारम्भ से ही सब समाजवादियों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु गत काल में पार्टी और उसके ऐक्य-प्रयत्नों के प्रति हमारे साम्यवादी मित्रों का रवैया उदासीनता का ही नहीं, अपितु स्पष्ट शत्रुता का रहा है। उन्होंने पार्टी पर अन्य लांछनों के साथ-साथ सामाजिक-फासिस्ट पार्टी होने का लाञ्छन लगा कर उसे बदनाम करने का प्रयास

किया। हमने समाजवादियों मे फूट बढ़ाने की अनिच्छा के कारण, उनके लाञ्छनों और दुर्भावनापूर्ण प्रचार का प्रत्युत्तर देना उचित न समझा। परन्तु हमारे शान्त और क्षमाशील रहने पर भी साम्यवादियों ने अपने विशिष्ट अड़ियलपन का परिचय देते हुए, अपना विरोध और विद्वेष जारी रक्खा और कांग्रेस-समाजवादी पार्टी सब समाजवादियों में एकता स्थापित करने में सफल न हो सकी।

यह स्मरण कर लेना आवश्यक है कि साम्यवादी पार्टी से पृथक एक समाजवादी पार्टी की स्थापना क्यों हुई और किसलिए उसका नाम कांग्रेस-समाजवादी पार्टी रक्खा गया है। कांग्रेसी समाजवाद वस्तुतः रूसी "सामाजिक जनतन्त्र" (Social Democracy) का भारतीय रूप है। जैसा लेनिन ने बतलाया था, "सामाजिक जनतन्त्र" दो क्रान्तियों की पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करता है। उनमें से एक क्रान्ति सामाजिक अर्थात् आर्थिक स्वतंत्रता की है और दूसरी है राजनैतिक अर्थात् जनतन्त्रीय स्वाधीनता की। लेनिन ने आगे और भी कहा है कि समाजवादी ध्येय जनतन्त्र के लिए संघर्ष लड़कर ही प्राप्त किया जा सकता है। पराधीन औपनिवेशिक देशों मे राष्ट्रीय संघर्ष ही जनतन्त्र का संघर्ष है।

हमारी पार्टी अपना नाम "सामाजिक जनतन्त्रीय पार्टी" रखती यदि यूरोप के सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों ने प्रथम विश्व-युद्ध में एक दूसरे के विरुद्ध अपने विभिन्न राष्ट्र-बन्धु धनिक वर्गों का साथ देकर 'सामाजिक जनतन्त्र' का नाम बदनाम न कर दिया होता। इसी कारण से लेनिन ने सामाजिक जनतन्त्रीय पार्टियों का पुनर्गठन कर चुकने पर उनका 'साम्यवादी पार्टी नाम रखना पसन्द किया

कांग्रेस समाजवादी पार्टी की इस बदनाम "सामाजिक जनतन्त्रीय पार्टी नाम को अपनाने की कोई इच्छा नहीं थी, और 'साम्यवादी पार्टी' नाम भी उसे ठुकराना पड़ा।

जिस समय कांग्रेस के समाजवादी, पार्टी बनाने के लिए संगठित हुए, उस समय साम्यवादी पार्टी के राष्ट्रीय आन्दोलन में पृथक रहने के कारण उसके साथ कुछ अप्रतिष्ठा लगी हुई थी। साम्यवादी पार्टी कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय संघर्षों से न केवल पृथक ही रही थी बल्कि उसने श्रमिकों को उनमें भाग लेने से रोकने की भी चेष्टा की थी। इन परिस्थितियों में हमें अपनी पार्टी के लिए नया नाम "कांग्रेस समाजवादी पार्टी" गढ़ना पड़ा। 'कांग्रेस' शब्द प्रजातन्त्र के लिए संघर्ष का प्रतीक है। परन्तु समाजवादी पार्टी के साथ इस शब्द को जोड़ने का सबसे बड़ा कारण यह था कि हम जनता के मस्तिष्क से यह भ्रम दूर करना चाहते थे कि समाजवादी कांग्रेस को पूँजीवादी संस्था समझते हैं।

पार्टी का संगठन उन समाजवादियों के द्वारा हुआ जो कांग्रेस के आन्दोलन में सक्रिय भाग ले चुके थे। अतः उसमें स्वभावतः कांग्रेसियों की बहुतायत थी और श्रमिकवर्गीय तत्व सीमित थे। इस प्रकार के गठन में एक बड़ा डर यह था कि कहीं पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन में अत्यधिक लीन होकर श्रमिकों द्वारा सत्ता-प्राप्ति के अपने अन्तिम ध्येय को न भूल जाय। दूसरी ओर साम्यवादी पार्टी को भी एक भारी खतरे से सावधान रहना था। राष्ट्रीय आन्दोलन में ही पृथक रहने और श्रमिक आन्दोलन में ही पूर्णतः लीन रहने के कारण यह सम्भावना थी कि वह देश को स्वाधीन करने के तात्कालिक कार्य की अवहेलना करेगी।

कांग्रेस-समाजवादी पार्टी ने प्रारम्भ ही से दोनों पार्टियां के भिन्न उदगम और मुख्य कार्यक्षेत्रों की भिन्नता को ध्यान में रखते हुए साम्यवादी पार्टी से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने चाहे। उसने साम्यवादी पार्टी के साथ उन श्रमिक क्षेत्रों में सहयोगी कार्य करना चाहा जहां साम्यवादी पार्टी का प्रचुर प्रभाव था; साथ ही उसने उससे उन कृषक और अन्य क्षेत्रों में सहयोग की आशा की जहां कांग्रेस का प्रभाव सर्वोपरि था। मैंने अपने पटना अभिभाषण से लेकर बारंबार इस प्रकार के सहयोग के लिए अनुरोध किया है। परन्तु हमारे साम्यवादी मित्र हमारी पार्टी के मार्क्सवादी स्वरूप को मानने के लिये तय्यार नहीं थे। अतः एकता के लिये किये गये प्रयत्न असफल रहे, परन्तु उनसे यह पता लगता है कि कांग्रेस-समाजवादी पार्टी ने अपने प्रारम्भ-काल से ही निरन्तर समाजवादी आन्दोलन में एकता लाने का प्रयास किया है।

यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति एक साथ दो राजनैतिक पार्टियों का सदस्य नहीं हो सकता चाहे वे पार्टियाँ क्रांतिकारी समाजवाद की दो शाखाओं का प्रतिनिधित्व ही क्यों न करती हों। एक समय पर एक व्यक्ति एक ही पार्टी के प्रति सच्चा हो सकता है और उसीका अनुशासन भी मान सकता है। अतः समाजवादी एकता या तो इस प्रकार पैदा की जा सकती है कि एक के अतिरिक्त सब समाजवादी पार्टियों को समाप्त कर दिया जाय और सब समाजवादी उसमें सम्मिलित होकर उसे अपना ऐक्य-स्थल बना लें। उसमें उन विभिन्न समाजवादी प्रवृत्तियों को जो क्रांतिकारी समाजवाद से मेल नहीं खातीं, पर्याप्त प्रतिनिधित्व और अवसर प्राप्त होने चाहियें। उसके भीतर पूर्ण प्रजातन्त्र हो और आपसी समालोचना की पूर्ण सुविधा हो। इसका तात्पर्य अनुशासन की शिथिलता से नहीं है। दूसरा

विकल्प यह है कि साम्यवादी पार्टी और कांग्रेस-समाजवादी पार्टी दोनों को समाप्त करके उपर्युक्त आधारों पर एक नई मार्क्सवादी पार्टी संगठित की जाय।

यदि इन दोनों विकल्पों में से कोई भी साम्यवादियों को मान्य न हो तो फिर दोनों पार्टियों को अपनी पृथक स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। इस कार्य के लिए एक सहयोग समिति बनानी पड़ेगी जिसमें दोनों पार्टियों के प्रतिनिधि हों। सैद्धान्तिक मतभेद रखते हुए भी विभिन्न प्रवृत्तियों के समाजवादियों का ऐसे आधार पर सम्मिलित कार्य करना सम्भव है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साम्यवादी अभी ऐसी सहकारिता के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। वे जहाँ एक ओर कांग्रेस-समाजवादी पार्टी में साम्यवादियों के प्रवेश के लिये शोर मचा रहे हैं वहीं दूसरी ओर वे उन श्रमिक संस्थाओं के नेतृत्व में समाजवादियों को हटाने के लिये प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं, जिनका समाजवादियों ने अथक परिश्रम करके निर्माण किया है और जिनमें उन्होंने साम्यवादियों को कार्य करने का अवसर दिया। साम्यवादियों की इन हरकतों से पता लगता है कि वे श्रमिक आन्दोलन में अपनी पार्टी के अतिरिक्त अन्य किसी भी पार्टी का प्रभाव सहन नहीं कर सकते। यदि वे सब क्षेत्रों में समाजवादियों के सहकारी बनना चाहते हैं, तो उन्हें श्रमिकों में समाजवादी प्रभाव को कम करने के लिए की जाने वाली अपनी हलचलों को समाप्त करके अपनी इस इच्छा की अभिव्यक्ति करनी चाहिये। यदि ये ऐसा न करें, तो कांग्रेस-समाजवादियों को यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि साम्यवादी हमारी

पार्टी में समाजवादी एकता स्थापित करने की नीयत से नहीं बल्कि कांग्रेस किसान आन्दोलनों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए घुसना चाहते हैं। इस प्रकार की शङ्कायें पहिले ही समाजवादियों में व्यापक रूप से फैली हुई हैं, और उनकी जिम्मेदारी साम्यवादियों पर है। यथार्थ में, साम्यवादियों की एकता की चाह का ठीक पता आज श्रमिक आन्दोलन से लग सकता है।

साम्यवादियों को समय असमय हमारी पार्टी में सम्मिलित होने की माँग को नहीं उठाते रहना चाहिये। कोई भी व्यक्ति एक समय में दो राजनैतिक पार्टियों के प्रति सच्चा नहीं हो सकता। कभी कभी यह सुझाव रखा जाता है कि किसी राजनैतिक पार्टी में उससे मिलती जुलती प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये और इसी आधार पर साम्यवादियों को कांग्रेस-समाजवादी पार्टी में सम्मिलित करने की माँग रखी जाती है। हम भी अपनी पार्टी में कृत्रिम सैद्धान्तिक एकता नहीं चाहते। कोई भी पार्टी प्रवृत्ति-विविधता को दबाकर और यन्त्रवत् एकता उत्पन्न करके नहीं बढ़ सकती। सैद्धान्तिक विभेद प्रायः पार्टी के विकास में सहायक होते हैं परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी पार्टी के द्वार उन व्यक्तियों के लिए खोल दें जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दूसरी पार्टी से प्रेरणा अथवा आदेश प्राप्त करते हों। जो लोग कांग्रेस समाजवादी पार्टी में साम्यवादियों को सम्मिलित कर लेने का आग्रह करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी एक राजनैतिक पार्टी है वह कांग्रेस के समान अनेक वर्गों और समुदायों की सम्मिलित संस्था अथवा राष्ट्रीय पार्लियामेंन्ट नहीं है।

जो लोग साम्यवादियों को कांग्रेस समाजवादी पार्टी में सम्मिलित करने पर बल देते है वे इस तथ्य की अवमानता अथवा जानबूझकर अवहेलना करते हैं कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी एक राजनैतिक पार्टी है। वे इसे वामपक्षीय एकता के स्थल मे परिणत करना चाहते हैं। अच्छा हो यदि वे अब यह अनुभव करलें कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी एक राजनैतिक पार्टी है जिसका अपना विशिष्ट सिद्धान्तवाद, कार्यक्रम, दृष्टिकोण और अनुशासन है।

वामपक्षीय ऐक्य-स्थल के स्थान पर कभी कभी कां० स० पा० को समाजवादी एकता की पार्टी बताया जाता है। परन्तु शब्दों का हेरफेर स्पष्टतः मनसूबों में परिवर्तन न कर सकता और न करता है। समाजवादी एकता की पार्टी नहीं हो सकती। कां० स० पा० ऐसी पार्टी तो हो सकती है जो समाजवादी एकता के लिए प्रयास करे। यही नहीं साम्यवादी पार्टी और कां० स० पा० दोनों एकता कांक्षी पार्टियाँ हो सकती है परन्तु यह कहना कि एक पार्टी समाजवादी एकता की है और दूसरी नहीं है निरी निरर्थक बकवास है।

जो व्यक्ति कां० स० पा० को समाजवादी एकता की पार्टी बनाना चाहते हैं वे सब सक्रिय साम्राज्यवाद-विरोधियों को उसमें सम्मिलित करने के लिए उसे और अधिक विस्तृत करने की भी मांग करते हैं उनका इरादा स्पष्ट है। वे कां० स० पा० को वामपक्षीय एकता के बृहद् मंच के रूप में परिणत करना चाहते है जिसमें साम्यवादियों को अपने प्रभाव का विस्तार करने की प्रचुर सुविधायें प्राप्त हो सकें। मैं यह मानता हूँ कि हमारी पार्टी के समान सब पार्टियों की यह नीति होनी चाहिये कि वे साम्राज्यवाद-विरोधी जन-समुदाय के प्रत्येक संगठित समूह में अपने सदस्य भेजें। परन्तु इस नीति को एक सिद्धान्त

की महत्ता प्रदान करके उस पर साम्राज्यवादी पार्टी को आधारित करना और यदि समाजवादी पार्टी इस प्रकार की मिलावट और विशृंखलता को स्वीकार न करे तो उसे एकता-विरोधी बताकर बदनाम करना उचित नहीं है।

यह सुझाया गया है हमारी पंक्तियों में वर्ग-चेतनायुक्त श्रमिकों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिये और पार्टी को अधिकाधिक श्रमिक-वर्गीय बनाया जाना चाहिये। परन्तु यह प्रक्रिया कृत्रिम ढंगों से गतिशील नहीं बनाई जा सकती स्वाभाविक रूप से ही उसकी वृद्धि होनी चाहिये। जैसे जैसे समाजादी पार्टी की जड़ें श्रमिक आन्दोलन में गहरी चलती जायेंगी और जैसे जैसे उस आन्दोलन का स्वरूप उच्चतर होता जायगा, तैसे तैसे श्रमिक-तत्वों की संख्या पार्टी में बढ़ती जायगी। पार्टी को श्रमिक-वर्गीय बनाने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें इक्का-ताँगा यूनियन, कुली यूनियन, भङ्गी यूनियन, इत्यादि के सदस्यों की भरमार कर दी जाय। इस प्रकार की भर्ती से पार्टी का स्वरूप नष्ट हो जायगा। वह फिर राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व करने का दम रखने वाली फौलादी क्रांतिकारियों की पार्टी न रहहेगी। यह बिना कहे ही स्पष्ट है कि पार्टी को अपनी पंक्तियों में चेतनायुक्त श्रमिकों को अधिकाधिक संख्या में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह पूछने योग्य बात है कि क्या बीस वर्षों के अपने अस्तित्व के उपरान्त भी साम्यवादी पार्टी अपने को बौद्धिकों के प्रभुत्व से मुक्त कर सकी है। क्या उसके भीतर श्रमिकों की बहुसंख्या हो गई है? फिर, जिस रूपान्तर को साम्यवादी पार्टी अपने बीस वर्षों के अस्तित्व में भी नहीं कर पाई, उसे यदि हम चार वर्षों में कर चुकने में असफल रहे तो इसमें शर्म की कोई बात नहीं है।

साम्यवादी, एकता के ऊपर जो ज़ोर देते हैं, उसके परिणाम स्वरूप देश की बढ़ती हुई संयुक्त-मोर्चा मनोवृति निर्बल ही होती है। उनके तर्कों से उन शङ्काओं और सन्देहों की पुष्टि होती है जो उनके प्रति उन लोगों में भी बने हुए हैं, जो किसी न किसी रूप में एक संयुक्त मोर्चा बनाये रखना चाहते हैं।*

---

* कॉंग्रेस समाजवादी साप्ताहिक (Congress Socialist Weekly) ९ अप्रैल १६३८।

: ६ :

# भारतीय संघर्ष (१९४०)

# भारतीय संघर्ष (१९४०)

भारत और विश्व के घटना क्रम से हमारे देश में शीघ्र ही स्वातन्त्र्य-संघर्ष होने का आभास मिलता है। पग पग करके हमारे राष्ट्रीय नेताओं को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अन्तिम संग्राम करने के लिए तैयारी करनी पड़ रही है। ऐसी स्थिति में भारत की अग्रगामी शक्तियाँ क्या करें? वह कौनसी नीति है जिससे राष्ट्रीय नेतृत्व अधिक मजबूत बने और साम्राज्यवाद को भागने के लिए बाध्य होना पड़े? क्या राष्ट्रीय नेतृत्व को उसकी पिछली और वर्तमान असमर्थता के लिए बुरा कह कर संघर्ष को विच्छिन्न करना श्रेयस्कर है, अथवा उसका साथ दे कर सम्पूर्ण कॉंग्रेस को संघर्ष में लाकर खड़ा कर देना? क्या फलप्रद संघर्ष के लिए अधिकाधिक तैयार रहने से हमारा नेतृत्व दृढ़ नहीं बनेगा।

आइये, हम इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए अपने देश की अग्रगामी शक्तियों की नीति और कार्यक्रम की पर्यालोचना करें।

हमारे देश के वामपक्षियों के चार विभिन्न समूह हैं। उनका दृष्टिकोण भारतीय स्वाधीनता के लिए अविलम्ब संघर्ष छेड़ने के प्रश्न पर एक सा नहीं है। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर उनमें तीव्र मतभेद हैं।

# राय के विचार

कामरेड एम० एन० राय की धारणा है कि पूरी और प्रभावपूर्ण तय्यारी किए बिना संघर्ष छेड़ देना बुद्धिमतापूर्ण न होगा। उनका तर्क है कि वर्तमान नेतृत्व संघर्ष को कठोर रूप से चलाने में असमर्थ है। समझौता गान्धीवाद का मूलतत्व है और गान्धीवाद सत्याग्रह के प्रकार का संघर्ष फलप्रद नहीं हो सकता। उसका अन्त समझौते में ही हो सकता है। गाँधीवाद ढङ्ग अपूर्ण और दोषयुक्त है और उस ढङ्ग से चलते रह कर हम अपने पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय तक नहीं पहुँच सकते। कांग्रेस कमेटियाँ न तो इतनी सुसंगठित हैं और न उनका इतना राजनैतिक विकास हो पाया है कि वे हमारे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में प्रभावपूर्ण साधन बन सकें। अतः हमें अविलम्ब संघर्ष के झमेले में न पड़ कर कांग्रेस को क्रान्तिकारी संघर्ष के उपयुक्त बनाने के उपाय करने चाहिएँ। इस प्रारम्भिक कार्य को पूरा करने के लिए काफी लम्बे समय तक बड़े पैमाने पर तैयारियां की आवश्यकता पड़ेगी। अतः श्रीराय के मतानुसार हमारा कार्य दो प्रकार का है :—

पहिले तो हमसे कहा जाता है कि हम वर्तमान नेतृत्व की और गांधीवाद तरीके की पोल खोलने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दें। काँग्रेसियों से कहा जाता है कि वे अपने ऊपर नया नेतृत्व स्थापित करने का प्रयास करें क्योंकि जब तक वर्तमान नेतृत्व का प्रभुत्व समाप्त नहीं होगा तब तक राष्ट्र के सम्मुख जो मुख्य कार्य है, वह सम्पन्न नहीं हो सकेगा।

दूसरे, हमें संघर्ष का एक नया ढङ्ग और एक ऐसा कार्य-क्रम बताया जाता है जिसको पूरा करके देश आगामी संघर्ष के लिए तैयार हो सकेगा। परन्तु वह संघर्ष-प्रणाली कामरेड राय की कोई

विशिष्ट वस्तु नहीं है। वह तो सारे समाजवादियों की सम्मिलित सम्पत्ति है।

वर्तमान परिस्थितियों में, कामरेड राय का कार्यक्रम कांग्रेस द्वारा अङ्गीकृत नहीं किया जा सकता, अतः नवीन तरीके को चलवाने का कार्य-भार उन वामपक्षियों पर पड़ता है जो उससे सहमत हैं। कामरेड राय वे अवस्थायें उत्पन्न करना चाहते है जिनसे यह कार्य सरल बन जाय। यही कारण है कि वे प्रान्तीय शासनों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के हट जाने के विरुद्ध थे। उन्होंने अनुभव किया कि विधान के रद्द होने में नागरिक अधिकारों में कमी आ जायगी।

इसी कारण से उन्होंने सितम्बर मास के अपने एक पत्र में कॉंग्रेस के प्रधान से अनुरोध किया था कि यदि ब्रिटिश सरकार विधान को इस प्रकार से स्वीकार कर ले कि प्रान्तीय सरकारों को अधिक विस्तृत अधिकार मिल जायँ, वयस्क मताधिकार हो जाय, और रियासतों के निवासियों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त हो जायँ तो वे नाजी जर्मनी के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों को सहायता प्रदान करें।

## साम्यवादी पक्ष

कॉंग्रेसी समाजवादियों के समान, जहाँ कामरेड राय कॉंग्रेस को एक जनतन्त्रीय आन्दोलन मानते हैं और इसलिये कॉंग्रेस कमेटियों को हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष का साधन समझते हैं, वहाँ साम्यवादी कॉंग्रेस को भारतीय धनिक वर्ग का विराट सङ्गठन बताते हैं। उनके अनुसार कॉंग्रेस का नेतृत्व, सिद्धान्त और संस्था दोनों की दृष्टि से, सदैव बुर्जुआ प्रकार का रहा है और उनकी नीतियों और कार्यक्रम से बुर्जुआ हितों का ही साधन हुआ

है। इस कारण से उनकी सम्मति में गान्धीवाद बुर्जुआ सिद्धान्तवाद का दक्षिण पक्ष है और 'वाम' सुधारवाद उसका वामपक्ष। इसी कारण से उन्होंने एक बार काँग्रेस-समाजवादी पार्टी को "समाजवादी चोले में वामपक्षीय चाल" कहा था। काँग्रेस के विषय में यह धारणा होने के कारण उन्होंने स्वभावतः अपना एक स्वतन्त्र मन्त्र और एक ऐसा स्वतन्त्र सङ्गठन बनाने का प्रयास किया जो संयुक्त साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे का मूर्तरूप हो। उस स्वतन्त्र संस्था को काँग्रेस के विरोध में खड़ा होना था। उसे निरन्तर राष्ट्रीय सुधारवादी समूहों और संस्थाओं की आलोचना करके उसका असली रूप जनता के सामने रखना था। साम्यवादियों को चाहिये कि वे राष्ट्रीय सुधारवादी संस्था (अर्थात काँग्रेस) और उसके नेताओं को श्रमिक जनसमुदाय से विलग करने का प्रयास करें। किसानों में फैले हुए काँग्रेसी प्रभाव से लोहा लेने के लिए किसान-सभाओं की रचना करें। संयुक्त मोर्चे के हथकण्डे, जनसमुदाय को आर्थिक और राजनैतिक संघर्ष के लिए परिचालित करने के लिए, और काँग्रेस और उसकी शाखाओं के प्रभाव से जनता को मुक्त करने के लिए सबसे श्रेष्ठ और प्रभावोत्पादक बनाये गये।" काँग्रेस में सम्मिलित होना भी अनिष्ट समझा गया क्योंकि उससे एक गैर-कानूनी संस्था को, सच्चे क्रांतिकारी कांग्रेसी तत्वों को बुर्जुआ नेतृत्व से दूर ले जाने और एक युद्ध मोर्चा बनाने के लिए, कानूनी सम्भावनायें मिल रही थीं।

यह ठीक है कि सातवीं विश्व काँग्रेस ने साम्यवादी इण्टरनेशनल के तरीकों में परिवर्तन किया और संयुक्त मोर्चे के हथकण्डों को एक नये ढङ्ग से प्रयुक्त करने का निर्णय किया। यह इस परिवर्तन का ही परिणाम था कि ब्रिटिश साम्यवादी पार्टी के

कामरेड दत्त और ब्राडले ने जनवरी सन् १९३६ में अपनी प्रसिद्ध रचना "भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी जन-मोर्चा" लिखी जिसमें उन्होंने संयुक्त मोर्चे के तरीके को एक नितान्त नये रूप में प्रयुक्त करने की सलाह दी और भारतीय साम्यवादियों से कहा कि वे "इण्डियन नेशनल कांग्रेस का आधार लेकर साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों का वृहत्तम मोर्चा बनायें और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कांग्रेस को सहारा और शक्ति प्रदान करें।" यह निस्सन्देह एक स्वस्थ दृष्टिकोण था और भारतीय साम्यवादी पार्टी ने सन १९३७ में इसे अपना लिया। उस समय से भारतीय साम्यवादी कांग्रेसी एकता की बातें करते रहे हैं। परन्तु युद्ध और क्रान्तिकारी सङ्कट के समय में उनकी नीति फिर बदल गई है और वे अपनी पुरानी स्थिति पर फिर पहुँच गये प्रतीत होते हैं। कांग्रेसी नेतृत्व पर आघात किये जा रहे हैं और उसको निकम्मा सिद्ध करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। उनकी नीति गान्धीवादी नेतृत्व की नीति को प्रभावित करने और उसे संघर्ष में आगे बढ़ाने की नहीं, बल्कि उस नेतृत्व के प्रभाव को चूर्ण करके उसे जनता से विलग करने की है। जनता का युद्ध-मोर्चा बनाने के लिए उस नेतृत्व का खोखलापन सार्वजनिक रूप से दर्शा देना साम्यवादियों का प्रथम कार्य कहा जाता है। इसको वे नीचे से संयुक्त मोर्चा बनाना कहते हैं—अर्थात् नेताओं के स्थान पर उनके अनुगामियों से ऐक्य स्थापित करना। परन्तु तनिक भी बुद्धि रखने वालों को यह स्पष्ट हो जायगा कि कांग्रेसी मनोवृत्ति वाले जनों को संयुक्त संघर्ष के लिए उन व्यक्तियों के सहयोग के बिना साथ ले लेना असम्भव है जिनमें उनका विश्वास है और जिनकी ओर वे पथ-प्रदर्शन के लिए देखते हैं।

संक्षेप में, आजकल उनकी आकांक्षा कांग्रेस के वर्तमान नेतृत्व के ऊपर आघात करके और उसके प्रभाव को खोखला बना कर कांग्रेसी जन समुदाय के ऊपर प्रभाव जमाने की है। वे अविलम्ब संघर्ष के पक्ष में तो प्रतीत होते हैं परन्तु वस्तुतः वे संघर्ष की शक्तियों को विच्छिन्न कर रहे हैं क्योंकि वे यह नहीं मानते कि वर्तमान नेतृत्व क्रान्तिकारी है अथवा हो सकता है, अतः वे कांग्रेस के बाहर और बहुधा उसकी प्रतिद्वन्द्विता में संघर्ष के नये साधन खड़े करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु अब तक उन्हें कोई सफलता नहीं मिली है, और इस लिए उनके द्वारा उत्पन्न की हुई अव्यवस्था भी सीमित है।

जब तक वे ऐसी नीतियों में विश्वास करते और ऐसे हथकंडे बरतते हैं, तब तक वे अविलम्ब संघर्ष के पक्षपाती होने का दावा नहीं करते रह सकते क्योंकि बहुत थोड़े कांग्रेसी और उनके अनुगामी उन्हें संघर्ष में अपने साथी बनाना स्वीकार करेंगे। कामरेड राय और उनके अनुयायियों से उनका मुख्य मतभेद कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व के प्रश्न के प्रति उनके रवैये में निहित है। कामरेड राय और उनके अनुगामी कांग्रेस को हमारे साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का शस्त्र बनाने में विश्वास करते हैं और वर्तमान अवस्था में श्रमिकों के नेतृत्व का समर्थन नहीं करते। इसके विपरीत, साम्यवादी कांग्रेस में विश्वास नहीं करते और श्रमिकों के नेतृत्व के ज़ोरदार पक्षपाती हैं।

## श्री० बोस का रवैया

श्री सुभाषचन्द्र बोस की कार्यशृङ्खला के पीछे जो सिद्धान्त है, उसे समझना कठिन है। वे अविलंब संघर्ष की बात तो करते हैं,

परन्तु अपनी शक्तिभर उसमें कठिनाई भी उपस्थित करते हैं। वे स्थान-स्थान पर कांग्रेस के वर्तमान नेतृत्व को यह कह कर कोसते रहते हैं कि वह संघर्ष नहीं चाहता और समझौते के लिए जानबूझ कर क्रियाशील होने का उसके ऊपर दोषारोपण करते हैं।

यदि उनका कथन विश्वसनीय है तो आज की मार्ग बाधा ब्रिटिश साम्राज्यवाद नहीं, बल्कि कांग्रेस का वर्तमान नेतृत्व है। वे व्यक्त रूप से दो कांग्रेसों की बात करते हैं और एक नवीन स्वराजवादी कार्यक्रम के द्वारा वर्तमान नेतृत्व का विरोध करने को सोचते हैं। जो तरीके वे अपना रहे हैं, उनसे समझौता रुकेगा नहीं, वरन् उसके उपयुक्त परिस्थितियां उत्पन्न हो जॉयगीं। संघर्ष के प्रारम्भ करने को कठिन बना कर वे ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न करने में सहायक हो रहे हैं, जिनसे हमारे बैरियों का साहस बढ़ेगा और कांग्रेस के भीतर समझौते के पक्षपाती तत्वों के हाथ मजबूत होंगे।

## सही दृष्टिकोण

कांग्रेस और आगामी संघर्ष के प्रति रवैये में विभिन्न वामपक्षी दलों का प्रमुख मतभेद निहित है। कांग्रेस समाजवादी यह विश्वास करते हैं, और कामरेड राय और उनके अनुगामी इस बात में हमसे सहमत हैं कि कांग्रेस अन्ततः प्रक्रिया के द्वारा हमारे ध्येय की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन बन सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम कांग्रेस के विपथगामिनी हो जाने की सम्भावना को बिलकुल छोड़ देते हैं। यदि ऐसा हुआ तो कांग्रेस निकम्मी बन जायगी और संघर्ष को चलाने के लिए नये साधन-संगठनों का निर्माण करना पड़ेगा।

परन्तु हमारे पास यह विश्वास करने के अनेक उत्तम कारण हैं कि यदि हम ठीक ढङ्ग से कार्य करते रहें तो हम कांग्रेस को सही मार्ग पर रख सकेंगे और प्रभावशाली संघर्ष के लिए उसे तैयार कर सकेंगे। साम्यवादियों ने कभी भी वास्तव में इस बात में विश्वास नहीं किया है। यही कारण है कि आज वे समझौता विरोधी कान्फ्रेंस के प्रश्न पर तटस्थ रह सकते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी वे तटस्थ हैं। उनके लिए कांग्रेस की प्रथमता और एकता इतनी नहीं है।

## कांग्रेस के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण।

उदाहरण के लिए हमारे बीच का भेद उस समय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है जब कांग्रेस में अनुशासन की समस्या उठ खड़ी होती है। कांग्रेस समाजवादियों ने विचार-भेद के होते हुए भी, ऐसे अवसरों पर सदैव कांग्रेस का साथ दिया है। कांग्रेस और संघर्ष के प्रति हमारे रवैये से, समझौता विरोधी कान्फ्रेंस और कांग्रेस को अशक्त और विशृंखल बनाने वाली प्रत्येक अन्य वस्तु के विषय में हमारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हम विश्वास करते हैं कि कांग्रेस सम्भावनाओं का खजाना है। आज कांग्रेस का घर और बाहर अतुलित प्रभाव है और चाहे हम उसकी अङ्गीकृत नीतियों और कार्यों से असहमत हों, फिर भी उसे छिन्न भिन्न करने की सोचना मूर्खता की पराकाष्ठा होगी।

कांग्रेस भारतीय एकता और जनतन्त्र की प्रतीक है। क्षुब्ध वातावरण में, हमारी आशाओं और आकांक्षाओं का वही एक मात्र अवलंब है। फासिस्ट मनोवृत्तियों ने सिर उठाना प्रारंभ कर दिया है और राष्ट्रीय अनैक्य और विघटन के भयानक

सिद्धान्तों का चारों ओर प्रचार किया जा रहा है। सम्प्रदायवाद बढ़ता जा रहा है। प्रगति और स्वतन्त्रता की शक्तियों को कुचलने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद से गठबन्धन करके एक शक्तिशाली गुट बनाने का प्रयास कर रही हैं। वे कांग्रेस और राष्ट्रीय नेतृत्व को अपना निशाना बना रही है। यह कल्पना करना मूर्खता है कि वे केवल वर्तमान हाईकमाण्ड के विरुद्ध हैं और नवीन नेतृत्व के आने पर प्रसन्नता से कांग्रेस में सम्मिलित हो जायँगी। इन तथ्यों के कारण हमारा यह विशेष कर्तव्य हो जाता है कि हम कांग्रेस को कमजोर अथवा विघटित करने वाला कोई भी कार्य न होने दे। वर्तमान समय में हमसे उच्च कांग्रेस-निष्ठा की भावना की आशा की जाती है।

## संघर्ष का गतिविज्ञान

जो भारी बल कामरेड राय नेतृत्व-परिवर्तन के ऊपर देते हैं, उसे समझना सरल है। परन्तु वे इस तथ्य की अवहेलना करते प्रतीत होते है कि संघर्ष नेतृत्व-परिवर्तन का भारी साधन है। संघर्ष का दबाव उन शक्तियों को उन्मुक्त करता है जो नेतृत्व को चलाती और रूपान्तरित करती हैं। संघर्ष के बीच में नए नेतृत्व की सृष्टि हो जाती है। जनसंघर्ष की हिलोरों में सदैव नवीन जननायक ऊपर उछल आते हैं। केवल नेतृत्व के गुणों का परिचय देकर, और जनसमुदाय को विजय पर विजय दिलाकर जनता का विश्वास और राष्ट्रीय नेतृत्व में स्थान प्राप्त किया जा सकता है। संघर्ष में वृद्धि के स्वर्णिम अवसर मिलते हैं।

संघर्ष का नवीन तरीका भी, सीमित क्षेत्र में ही सही, प्रयोग में लाया जा सकता है। और यदि वह उपयोगी सिद्ध हो, पुरानी

कार्य-शैली की तुलना मे बढ़कर प्रतीत हो और जनता को प्रभावित कर सके, तो वह नेतृत्व परिवर्तन का एक शक्तिशाली अस्त्र बन सकता है। गतकाल का अनुभव हमें बताता है कि जब कभी कांग्रेस कोई विशाल जन-संघर्ष छेड़ती है तो उसके अग्रगामी बनने की प्रक्रिया अधिक गतिशील हो जाती है। संघर्ष के समय में कार्यकर्त्ताओं को बड़े बहुमूल्य अनुभव प्राप्त होते हैं। वे संघर्ष-प्रणाली का व्यावहारिक रूप देख लेते हैं और उसकी अपूर्णता और न्यूनता को जान लेते हैं। गतिशील स्थिति में यह प्रक्रिया और भी वेगवती हो जाती है। संघर्ष शैली कुछ भी हो, संघर्ष के अनुभव और परिणाम सदैव आन्दोलन के लिए हितकारी और स्वास्थ्यकर होते हैं।

इस विश्वास और इन अनुभवों के आधार पर कांग्रेसी समाजवादियों ने सदैव कांग्रेस पर संघर्ष की तैयारी करने के लिए ज़ोर डाला है। जन समुदाय संघर्ष चाहता है। युद्ध की भूमिका में यह इच्छा और भी प्रबल हो उठी है। लखनऊ अधिवेशन से लेकर कांग्रेस ने हर बार जो युद्ध-बहिष्कार की नीति घोषित की है, उससे जनता में यह इच्छा उत्पन्न हुई है। उस नीति को बारम्बार निर्धारित कराने का दायित्व सम्पूर्ण वामपक्ष पर है। अब जब कि उन निर्णयों को क्रियात्मक रूप देने का अवसर आया है तब हमारे लिए रुख बदलकर युद्ध-समाप्ति तक के लिए संघर्ष टालने की बात कहना अशोभनीय और अयुक्त होगा।

कामरेड राय ने नीति परिवर्तन के लिए जो कारण प्रस्तुत किए हैं, उनका अस्तित्व उस समय भी था जब निर्णय किए गए थे। हम यह नहीं कह सकते कि आज जो अवस्थायें चल रही है उनका हमें निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था। इतने थोड़े समय में किसी को भी कांग्रेसी नेतृत्व में उग्र परिवर्तन हो जाने की आशा नहीं हो सकती

था। युद्ध बहिष्कार की बात सामने लाकर, उससे उठने वाली संघर्ष की मांग की ओर से उदासीनता हो जाना बुरे नेतृत्व का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त हमारे विचार से, वर्तमान परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के बीच समझौता होना सरल नहीं है। कांग्रेस (आज की भी सुधारों की एक और किश्त से और अनिश्चित समय पर औपनिवेशिक स्वराज्य दे देने के वायदे से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। और न ब्रिटिश सरकार ही कुछ वास्तविक सत्ता छोड़ने को तैयार है। अतः समझौता कठिन प्रतीत होता है। दमन जो खोलकर किया जा रहा है। जैसी वस्तुस्थिति है, उसे देखते हुए संघर्ष से पीछा छूटना सम्भव नहीं दीखता।

कामरेड राय की बातों के आधार पर भी हमें संघर्ष के लिए तय्यार रहना चाहिए। कामरेड राय ने कांग्रेस के प्रधान से ब्रिटिश सरकार के साथ कुछ शर्तों के आधार पर बात चीत चलाने का अनुरोध किया था। मान लीजिए कि उनकी राय मान ली जाती, और जो माँगें उन्होंने तय्यार की थीं वे ब्रिटिश सरकार के सामने रख दी जातीं, और मान लीजिए कि उन मांगों को ठुकरा दिया जाता, तो उस दशा में कॉंग्रेस क्या करती। संघर्ष निश्चय ही अनिवार्य हो जाता।

यह अचम्भे की बात है कि कामरेड राय ने इस अवस्था के लिए कुछ नहीं सोचा। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जो शर्तें उन्होंने सुझाई थीं वे इतनी नरम और उचित थीं कि ब्रिटिश सरकार उन्हें ठुकरा नहीं सकती थी। परन्तु अपने विरोधियों की मधुर औचित्यबुद्धि। (sweet reasonableness) पर भरोसा करना मूर्खता है। शत्रु की नीति हमें लड़ने को बाध्य करने की भी

हो सकती है। अतः बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व शत्रु से समझौते की बातचीत करते हुए भी संघर्ष की तय्यारी करेगा। इसीलिए देश को संघर्ष के लिए तैयार करना और संपूर्ण कांग्रेस को संघर्ष की ओर आगे बढ़ाना ही एकमात्र सही नीति है।

इस नीति का एक अत्यावश्यक अङ्ग इसके लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करना है। आन्तरिक झगड़े और विवाद समाप्त किये जाने चाहिये और अपनी पंक्तियों में एकता और अनुशासन पैदा करने के लिए देशव्यापी आवाज उठाई जानी चाहिये यह सफलता का मार्ग है अन्य कोई मार्ग हमारे प्राणप्रिय लक्ष्य के लिए बाधक होगा। यदि हम उस मार्ग को नहीं अपनायेंगे तो इसका विकल्प होगा फूट नैतिक पतन और पराजय।

## समाजवादी सम्पूर्ण कांग्रेस को परिचालित करने के पक्ष में

कम से कम कांग्रेसियों को तो अपनी पंक्तियों को दृढ़ता से मिला कर शत्रु के सम्मुख एक ऐसा ठोस व्यूह उपस्थित करना चाहिये जिससे हमारा राष्ट्र एक होकर अपने पुरुषत्व को दी गई चुनौती का प्रतिकार करने में समर्थ हो सके। दमन अपने पूरे ज़ोर पर है। यदि हम संघर्ष प्रारम्भ नहीं करेंगे तो वह हम पर लादा जायगा। कांग्रेस-इतिहास की इस संकटपूर्ण घड़ी में मतभेदों का अवसर नहीं है। हमें एक स्वर से बोलना चाहिये और कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़ने के लिए सन्नद्ध होना चाहिये।

यदि हम सम्पूर्ण कांग्रेस को संघर्ष की ओर बढ़ाना चाहते हैं तो हम उसके नेताओं के विरुद्ध यह प्रचार करते नहीं रह सकते कि वे जैसे बने वैसे संघर्ष से बचना चाहते हैं

और कांग्रेस के सिद्धान्तों को ताक पर रखकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता करना चाहते हैं। यह संघर्ष को खटाई में डालने की एक ही तरकीब है। जब कि देश से कांग्रेस कार्यसमिति की प्रकट घोषणाओं पर भी विश्वास न करने के लिये कहा जाता हो तब हम लोगों से संघर्ष की आवश्यक तैयारियों पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने की आशा नहीं कर सकते। कार्यसमिति के सदस्यों की कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि वे अविश्वसनीय व्यक्ति हैं। ऐसा प्रचार अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मार लेता है।

## दो आवाजें

यह श्री० सुभाषचन्द्रबोस के विरुद्ध हमारा अभियोग है। हम विश्वास करते थे कि वे कांग्रेस की अखण्डता को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करेंगे। युद्ध छिड़ने के समय उन्होंने एकता के लिए जो भावपूर्ण अपील की थी वह अभी तक हमारे कानों में गूँज रही है। पूर्वकाल में उन्होंने वर्तमान नेतृत्व का तो विरोध किया था परन्तु स्वयं कांग्रेस के विरुद्ध कभी कोई कार्य नहीं किया। तब से उनमें महान परिवर्तन हो गया है। अब वे कांग्रेस के टुकड़े करने पर तुले हुए प्रतीत होते हैं।

वे वर्तमान कांग्रेस को केवल दक्षिणपक्षियों की संस्था में परिणत कर देना चाहते हैं और वामपक्षियों से कहते हैं कि कांग्रेस को छोड़कर एक नवीन वामपक्षी कांग्रेस बनाने में उनकी सहायता करें ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता की राह में उन्होंने एक भयानक पगडण्डी पकड़ी है।

श्री० सुभाषचन्द्र बोस सदैव इस प्रकार के समझौते के विरुद्ध

नहीं रहे हैं। अपने प्रधान काल में युद्ध-विषय पर वे ब्रिटिश सरकार से बातचीत चलाने के पक्ष में थे। आज वे कहते हैं कि संविधान सभा का आह्वान सत्ता हस्तगत करने के उपरान्त ही हो सकता है।

परन्तु वे अपने पत्र 'फारवर्ड ब्लॉक' में ९ सितम्बर को छपे वर्धा में मार्ग-दर्शन शीर्षक अपने लेख को भूल गये प्रतीत होते हैं। उसमें उन्होंने कहा है कि कांग्रेस को सरकार के सम्मुख राष्ट्रीय मांग को जोरों से प्रतिपादन करना चाहिये और उसकी तत्काल पूर्ति के लिए अड़ जाना चाहिये। उसी लेख में उन्होंने यह भी कहा है कि वर्धा में इस समय विचार-विमर्श करने वाले हमारे नेताओं को उससे रत्तीभर भी कम नहीं मांगना चाहिये जो हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। यदि उन्हें सन्धि-वार्ता के लिए आमन्त्रित किया जाता है तो उन्हें वह वार्ता अपने गौरव के अनुकूल करनी चाहिये।

एक वर्ष पहले जलपाईगुरी में माल्दा प्रादेशिक और बंगाल प्रान्तीय कान्फ्रेंसों के अवसर पर सुभाषबाबू ने एक प्रस्ताव बनाया था जिसमें सरकार द्वारा कांग्रेस की मांग स्वीकृत किये जाने की एक सम्भावना व्यक्त की गई थी ऐसा होने पर विधान निर्माण के लिए संविधान सभा बुलाने और उस विधान को ब्रिटेन और भारत के बीच मैत्री-सन्धि के अन्तर्गत मूर्त रूप देने की कल्पना की गई थी। यह कार्य उनकी सम्मति में संघर्ष के बिना ही सम्पादित हो सकता था। फिर अब वे कैसे गान्धीजी को वायसराय से मिलने और बातचीत करने के लिए दोष देते हैं।

हाँ तो यह कहा जाता है कि ऐसी बातें साधारण वामपक्षियों को अच्छी लगती हैं। उनकी राजनैतिक शिक्षा नारों तक ही सीमित है। वे राजनीति में अधकचरे हैं। अतः वे नादान दोस्तों की तरह

कार्य करते हैं। सबसे अधिक आवश्यकता युवकों और राजनैतिक कर्मियों को उचित शिक्षा देने की है।

कांग्रेसी समाजवादियों के विरुद्ध छलभरा झूठा और दुर्भावना-पूर्ण प्रचार किया जा रहा है। हमें मैन्शेविकों (रूस के नरमदलीय साम्यवादियों) की पदवी दी गई है। कहा जाता है कि हमने गान्धीजी और कांग्रेस हाईकमाण्ड के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया है। गान्धीजी के नेतृत्व में संघर्ष में सम्मिलित होने की हमने जनता से जो अपील की है उसका जानबूझकर उल्टा अर्थ लगाकर उसे गान्धीवाद के सम्मुख घुटने टेकना बताया जा रहा है।

खैर हम अपनी सफाई पेश नहीं करेंगे। हमारे विगत और वर्तमान कार्य ही हमारे बचाव के लिए पर्याप्त हैं। हमने जो दिशा अपनाई है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमने गान्धीवादी दर्शन को मान लिया है अथवा हम गान्धीवादी तरीके को पर्याप्त या प्रभावपूर्ण समझने लगे हैं। हमने बार बार गान्धीवादी तरीके की अपूर्णता और आंशिक प्रभावोत्पादकता की ओर संकेत किया है और उसकी पूर्ति करने के लिए कार्यक्रम उपस्थित किये हैं। यह एक कठोर सत्य है कि आज के दिन कोई भी संघर्ष तब तक न तो राष्ट्रव्यापी बन सकता है और न संसार का ध्यान आकर्षित कर सकता है जब तक गान्धीजी का हाथ उसमें न हो। यह हमारी राजनैतिक प्रगति की शोचनीय अवस्था का द्योतक भले ही हो परन्तु हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस समय हमें एक शक्तिशाली जन-आन्दोलन चाहिये और जब तक गान्धीजी उसका आह्वान नहीं करेंगे तब तक जनता और वर्ग बड़ी संख्या में कभी भी उसकी ओर आकर्षित नहीं होंगे अतः कांग्रेस से गान्धीजी की अवहेलना करके संघर्ष प्रारम्भ करने की

कहना अथवा यदि कांग्रेस उसमें देरी करे तो स्वतंत्र संघर्ष छेड़ने की धमकी देना व्यर्थ है।

हमारा कार्य सम्पूर्ण कांग्रेस को परिचालित करना है। यह तभी हो सकता है जब हम कांग्रेस में एकता लाने के लिए प्रयत्न करें उसके निर्णयों को मानें और उसके अनुशासन का पालन करें। हमें अपने दिलदिमाग ठण्डे रखने चाहिये और स्थिति से पूरा लाभ उठाना चाहिये। सबसे अधिक हमें सस्ती लोकप्रियता के लोभ में नहीं पड़ना चाहिये।

---

: ७ :

# युद्ध—साम्राज्यवादी अथवा जनता का ?

(१९४२)

# युद्ध—साम्राज्यवादी अथवा जनता का ?
## (१९४२)

पार्टी ने सदैव युद्धों को जँगली बता कर उनकी निन्दा की है। परन्तु युद्धों के प्रति उसका दृष्टिकोण सिद्धान्ततः शान्तिवादियों और पूर्ण अहिंसावादियों के रुख से भिन्न है। पार्टी का युद्ध-विरोधी रवैया मूलतः राजनैतिक कारणों पर आधारित है। हम अनुभव करते हैं कि शोषण के ऊपर टिके हुए समाज में युद्ध अवश्यम्भावी है, और इसलिए हम मानते हैं कि प्रतिस्पर्द्धाओं और झगड़ों की जड़ों को मिटाये बिना और समाजवाद स्थापित किये बिना युद्धों का अन्त असम्भव है। हम यह भी मानते हैं कि कुछ युद्ध न्यायपूर्ण और प्रगतिशील प्रकार के भी होते हैं—उदाहरण के लिए पीड़ित राष्ट्रों द्वारा अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध, कृषकों द्वारा भूमिपतियों के विरुद्ध और श्रमिकों द्वारा धनिकवर्ग के विरुद्ध लड़े गये स्वातन्त्र्य-युद्ध। ऐसे युद्धों में समाजवादियों की सहानुभूति विदेशी दासता से मुक्त होने के लिए हाथ-पाँव मारती हुई पीड़ित जाति की ओर, और धनिकवर्ग के पूँजीवादी शिकंजे से निकलने को छटपटाती श्रमिक जनता की

ओर' होगी। उस समय में जब पूँजीवाद प्रगतिशील था और सामन्तशाही और निरंकुशतावाद को नष्ट कर रहा था, तब समाजवादी सुखपूर्वक उस धनिकवर्ग के साथ सहानुभूति रख सकते थे जिसने इस कार्य को सम्पादित करने में योग दिया था—यद्यपि उसने विदेशों को पादाक्रान्त करने में भी कसर न रक्खी थी। धनिकवर्ग के द्वारा किये गये इन लूट और अन्याय के कामों से ऐसे युद्धों का मूलभूत ऐतिहासिक अर्थ नहीं बदला। फ्रेञ्च क्रान्ति ने ऐसे समय का श्रीगणेश किया था और सन १७८६ और १८७१ के बीच के काल में ऐसे अनेक युद्ध हुए जो प्रगतिशील प्रकार के थे। ये विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध थे। इनकी सामान्य प्रवृत्ति सामन्तवाद और निरंकुश सत्तावाद को शक्तिहीन और नष्ट करने की थी। यह ऐतिहासिक कार्य धनिकवर्ग के द्वारा पूरा हुआ और इसने श्रमिकों के समाजवादी संघर्ष के विकास का क्षेत्र खोल दिया।

परन्तु हम आजकल एक साम्राज्यवादी युग में रह रहे हैं। पूँजीवाद की प्रगतिशीलता समाप्त होगई है और वह एक प्रतिक्रियात्मक शक्ति बन गया है। वह उत्पादन शक्तियों को जकड़े हुए है। साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की उच्चतम अवस्था है। उन्मुक्त व्यापार और प्रतिस्पर्द्धा को एकाधिकार प्रवृत्तियों ने धर दबाया है। उत्पादन शक्तियों का इस हद तक विकास हो गया है कि वे अब पूँजीवादी चौखटे में कस कर नहीं रक्खी जा सकतीं। मानव समाज को या तो समाजवाद की ओर चलना है अन्यथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और धनिकवर्ग के शासन को बनाये रखने के लिए, पूँजीवादी राष्ट्रों में बार-बार युद्ध होते देखना है।

ऐसा समय बीसवीं सदी में आ पहुँचा था। १९१४-१८ का युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध था जो साम्राज्यवादी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए लड़ा गया था। "अन्य (अर्थात हिंसात्मक) साधनों द्वारा जारी रखी गई राजनीति है।" सन् १९१४-१८ के विश्व युद्ध ने केवल औपनिवेशिक लुटेरेपन, विदेशी राष्ट्रों के उत्पीड़न और श्रमिक आन्दोलनों के दमन की साम्राज्यवादी नीति को ही जारी रक्खा।

वर्तमान युद्ध भी इसी प्रकार का है। साम्राज्यवाद का युग अभी समाप्त नहीं हुआ है यद्यपि पिछले युद्ध के परिणामस्वरूप एक ऐसे राज्य का जन्म हो गया जो समाजवाद का दम भरता है। संसार की अधिकांश अर्थ व्यवस्था पूँजीवाद ही बनी हुई है। जब सितम्बर सन् १९३९ में युद्ध छिड़ा तो साधारणतः उसका स्वरूप साम्राज्यवादी माना जाता था। राष्ट्रीय इकाइयों अर्थात साम्यवादी पार्टियों ने तुरन्त ही सीधा युद्ध-विरोधी रुख अपनाया। उन्होंने वस्तुत यह कहा कि यह युद्ध साम्राज्यवादी है। साम्राज्यवादी युद्ध में शत्रु तुम्हारे अपने देश के भीतर होता है। श्रमिकवर्ग के दृष्टिकोण से प्रतिद्वन्द्वी शासकवर्गों में से कोई भी भला नहीं होता, अतः प्रत्येक देश में श्रमिकवर्ग का एक मात्र कर्त्तव्य है अपने शासक-वर्ग पर आघात करना जिससे सम्पूर्ण शासकवर्गों की पराजय और एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्रांति के द्वारा युद्ध समाप्त किया जा सके। इस युक्ति का कि ब्रिटिश पूँजीवाद जर्मन फासिज़्म से कम बुरा है, इङ्गलैंड के 'डेली वर्कर' नामक साम्यवादी दैनिक ने २६ अप्रेल सन् १९४० के अङ्क में निम्न उत्तर दिया था :—

"जो लोग यह कहते थे कि 'रूसी पूँजीपति के लिए लड़ो क्योंकि अन्यथा तुम जर्मन पूँजीपति के पैरों तले आ जाओगे', उनको

लेनिन ने जबाब दिया था कि 'यह विकल्प मिथ्या है। किसी भी पूंजीपति का पक्ष मत लो, बल्कि अपनी शक्तियों का एकीकरण करके जनता की सत्ता स्थापित करो'। यह बाईस साल से कुछ पहिले की बात है"। सन् १९४० में, युद्ध का स्वरूप निर्धारित करने के लिए साम्यवादी लोग पार्लियामेंटीय जनतन्त्र और फासिज़्म में कोई भेद नहीं करते थे।

परन्तु श्री० विक्टर गोलेंज ने यह विचार रक्खा कि फासिज़्म का अभ्युदय एक नवीन तत्व है जिस पर ध्यान देना चाहिए। वर्तमान युद्ध फासिस्ट-विरोधी युद्ध है और १९१४–१८ के नारे इसके ऊपर लागू नहीं होते। जर्मन-सोवियत समझौते पर हस्ताक्षर होने के पूर्व साम्यवादी पार्टियों का भी यही मत था। 'तुम कहाँ जा रहे हो?' शीर्षक एक खुली चिट्ठी में जो उसने साम्यवादियों के नाम लिखी थी, विक्टर गोलेंज ने अपने तनिक पहिले के सहयोगियों को बताया :— न इस बात का रंचमात्र इशारा था कि यदि रूस हमारा पक्ष नहीं लेगा तो हम हिटलर के सम्मुख झुक जायेंगे, अथवा हम टोरी (अनुदारदलीय) नेतृत्व में लड़ने से इन्कार करेंगे। इसके विपरीत आवाज यह थी कि चेम्बरलेन कभी हिटलर के सम्मुख खड़ा नहीं हो सकता; और लोगों की दृष्टि कभी ईडिन, कभी विन्सटन चर्चिल, और कभी डफ कूपर की ओर जाती थी, केवल इस आशा और विश्वास से कि वे हिटलर के विरुद्ध खड़े हो सकेंगे। यथार्थ में, जैसे जैसे समय बीतता गया, हम टोरियों से अधिकाधिक सीधे प्रकार से अपील करने लगे।

जो कुछ साम्यवादी लोग हिटलरी फासिज़्म के खतरे के बारे में 'लोकप्रिय मोर्चे' (Popular Front) के दिनों में कहा करते थे, उसके आधार पर विक्टर गोलेंज ने उनसे अपने नवीन

युद्ध-विरोधी रवैये पर पुनर्विचार करने, और कम से कम नाजी पक्षपाती लगने वाले कार्यों से बचने की अपील की। उसने विशेषकर उनको यह बताया कि सब साम्यवादी पार्टियाँ युद्ध-विरोधी दिशा में एकसी नहीं चल रहीं हैं और जहाँ ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्यवादी अपने यहाँ की जनता से कह रहे हैं कि "मुख्य शत्रु घर पर है" अर्थात् मित्रराष्ट्र है, वहां जर्मन साम्यवादियों के लिए "मुख्य शत्रु बाहर है" अर्थात् मित्रराष्ट्र हैं। उसने इस बारे में कम्यूनिस्ट पार्टी के 'डाई बैल्ट नामक एक मुखपत्र में २ फरवरी सन् १६४० को जर्मन साम्यवादी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के सदस्य वाल्टर अलब्रिख्ट के द्वारा लिखे गये एक लेख का भी जिक्र किया जिसमें निम्नलिखित वाक्य आया है :—

"यह युद्ध-नीति (अर्थात् मित्रराष्ट्रों के पक्ष लेने की) और भी अधिक अपराधपूर्ण है क्योंकि ....(ब्रिटेन)....संसार की सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी शक्ति है।"

अलब्रिख्ट जर्मन साम्यवादियों से यह नहीं कहता कि शत्रु घर पर है। वह जर्मन जनता से उठने और क्रान्तिकारी कार्रवाई द्वारा राज्य-सत्ता को उलट देने की अपील नहीं करता। (कोई यह न समझ ले कि यह बात प्रकाशन की कठिनाइयों के कारण है, क्योंकि स्मरण रहे कि "डाई वेल्ट" स्वीडन में प्रकाशित होता है)। इसके विपरीत, वह उनसे कहता है कि "ब्रिटेन विश्व की सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी शक्ति है।" "डेली वर्कर (१ फरवरी १६४०) ने भी सम्पूर्ण दोष ब्रिटेन पर थोप दिया और ऐसा ध्वनित किया कि हिटलर का पक्ष तो ठीक और युक्तियुक्त है, और सारी मुसीबत चैम्बरलेन और रेनो की दुष्टता के कारण है। "डेली वर्कर" का निम्न अवतरण मजेदार है :—

"हिटलर ने एक बार फिर अपने दावे को दुहराया कि युद्ध ब्रिटेन ने उसके ऊपर लादा है। इस ऐतिहासिक तथ्य का कोई उत्तर नहीं। ब्रिटेन ने युद्ध-घोषणा की थी—जर्मनी ने नहीं। युद्ध को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये, परन्तु सोवियत-जर्मन शान्ति-सन्देशों को ब्रिटेन ने ठुकरा दिया। इन पिछले सब महीनों में युद्ध बन्द करना ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों के हाथ में रहा है। परन्तु उन्होंने उसकी अवधि बढ़ाने का मार्ग चुना है।"

साम्यवादियों की यह नई नीति और उनकी नितान्त अवसरवादिता केवल इस आधार पर समझ में आ सकती है कि सोवियत रूस एक बड़े युद्ध से दूर रहने के लिए उत्सुक था और उसने सोवियत जर्मन समझौते के द्वारा उस समय के लिए तो अपना यह उद्देश्य सिद्ध कर लिया था। अतः साम्यवादियों के लिए यह आवश्यक था कि वे उक्त समझौते को सङ्कट में डालने वाला कोई कार्य न करें। इसलिए वे अपनी गतिविधि सरल और एकसी नहीं रख सकते थे। यह भी निश्चित है कि यदि वह समझौता न होता, तो युद्ध फासिस्ट-विरोधी बताया जाता और संसार के श्रमिकों से अपील की जाती कि वे मित्रराष्ट्रों की ओर रहें। हम उचित स्थान पर युद्ध के प्रति साम्यवादी नीति के प्रमुख हेर-फेरों की विस्तृत विवेचना करेंगे। इस समय इतना कहना पर्याप्त है कि जर्मन-सोवियत समझौते के पश्चात् साम्यवादियों के हाथ, युद्ध-विरोधी दिशा पकड़ने के लिए खुल गये। हाँ श्री गोलेंज हिटलर के विरुद्ध अपना बुर्जुआ सरकार का पक्ष लेने और इस प्रकार पश्चिमीय जनतन्त्र और सभ्यता को नष्ट होने से बचाने की अपनी पुरानी लकीर पर चलते रहे। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने

मार्क्स का उदाहरण दिया जिसने जर्मन होते हुए फ्रांस और जर्मनी के बीच हुए युद्ध में जर्मनी का साथ दिया था। अन्य व्यक्ति मार्क्स और एंजिल्स के बारे में कहते हैं कि युद्धों की निन्दा करते हुए भी, वे युद्ध छिड़ने की अवस्था में, एक न एक युद्ध-रत गवर्नमेन्ट का पक्ष सदैव लेते थे—जैसा सन् १८५४-१८५५, १८७०-१८७१, और १८७६-१८७७ में हुआ। यह बताया जाता है कि मार्क्स ने लगातार ब्रिटिश शासकवर्ग को रूस के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उकसाया था, क्योंकि उसका विश्वास था कि जारशाही की शक्ति बढ़ने से यूरोप में श्रमिक-वर्ग के आन्दलनों की वृद्धि संकट में पड़ जायगी। विगतकाल के दृष्टान्तों के आधार पर वर्तमान की गति विधि निश्चित करना संकटमय है। परिस्थितयों के परिवर्तन के कारण पुराने गुरु झूठे हो जाते हैं। मार्क्स के समय में धनिकवर्ग की प्रगतिशीलता बन्द नहीं हुई था। पिछली शताब्दी में पूँजीवादी राज्य और निरकुश सामन्तशाही और निरंकुश सत्तावाद को नष्ट करके राष्ट्रवादी राज्य संगठित करने का ऐतिहासिक कार्य सम्पादित कर रहा था। इसके अतिरिक्त श्रमिकवर्ग तब तक सब स्थानों में एक स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति के रूप में उदित नहीं हुआ था, और जहां उसका अरुणोदय हो गया था, वहां वह इतना शक्ति सम्पन्न नहीं हो पाया था कि अन्य निम्नवर्गों का नेतृत्व कर सके।

ये सब हवाले सन् १९१४ में भी सामाजिक देश प्रेमी हुल्लड़-वादियों (social chauvinists) ने अपनी मातृभूमि की रक्षा करने के अपने रवैये की पुष्टि में दिये थे। परन्तु जैसा लेनिन ने उस समय बताया वे मार्क्स और एन्जिल्स के विचारों के विगर्हणीय विकृत रूप थे। लेनिन ने निम्न प्रकार से उन्हें उत्तर दिया था—

"सन् १८७०-७१ के युद्ध में जर्मनी का पक्ष, नेपोलियन तृतीय की पराजय तक, ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील था क्योंकि उसने

और जार ने जर्मनी का दीर्घकाल से उत्पीड़न किया था और उसे सामन्तशाही विकेन्द्रण (decentralisation) की दशा में रक्खा था। जैसे ही युद्ध फ्रांस की लूट के रूप में परिणत हुआ (एलसेस और लांरेन के हथिया लेने से), तैसे ही मार्क्स और एन्जिल्स ने साथ साथ निश्चयात्मक रूप से जर्मनों की निन्दा की। सन् १८७०-७१ के युद्ध के प्रारम्भ में भी मार्क्स और एन्जिल्स ने बेबिल, और लबिनैक्ट के सामरिक स्वाधिकरणों (military appropriation) के पक्ष में वोट देने से इन्कार करने को पसन्द किया, और उन्होंने सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों को राय दी कि वे धनिक वर्ग के साथ सम्मिलित न हों, वल्कि श्रमिकवर्ग के पृथक स्वतन्त्र हितों की रक्षा करें। फ्रांस-प्रशिया युद्ध का दृष्टान्त और स्वरूप वर्तमान साम्राज्यवादी युद्ध पर घटाना इतिहास का उपहास करना है। वह युद्ध प्रगतिशील बुर्जुआ प्रकार का था और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ा गया था। "यह बात सन् १८५४-५५ के युद्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य सब युद्धों के वारे में और भी अधिक सत्य है। यह शताब्दी वह समय था जब आधुनिक साम्राज्यवाद नहीं था, समाजवाद के लिए परिपक्व वस्तुस्थिति नहीं थी, युद्धरत देशों में कोई विशाल समाजवादी पार्टियां नहीं थीं, अर्थात जब उन अवस्थाओं का लेशमात्र भी कहीं नहीं था, जिनके आधार पर वेसिल नीति-घोषणा-पत्र (Basle Manifesto) ने श्रमिक क्रान्ति के वे हथकंडे तैयार किए थे जो बड़े राष्ट्रों में युद्ध छिड़ने की अवस्था में काम में लाये जा सकें।

जो कोई वर्तमानकाल में मार्क्स के युद्धों के प्रति उस समय के रवैये का उदाहरण देता है जब धनिकवर्ग प्रगतिशील था, और मार्क्स और एन्जिल्स के "श्रमिकों की कोई पितृभूमि नहीं

होती" इन शब्दों को ( जो उस समय के लिए चरितार्थ होते हैं जब धनिकवर्ग प्रतिक्रियावादी और अनावश्यक हो जाता है, अर्थात समाजवादी क्रान्ति का समय आजाता है), भूल जाता है, वह मार्क्स के विचारों का बड़ा ही विकृत रूप दिखाकर समाजवादी दृष्टिकोण के स्थान पर बुर्जुआ दृष्टिकोण उपस्थित करता है" (लेनिन की संग्रहीत रचनायें, जिल्द १८, "साम्राज्यवादी युद्ध", पृष्ठ २२)।

जर्मन-सोवियत समझौता एक वर्ष भी भले प्रकार न चल पाया था कि हिटलर ने उसपर पानी फेरने की ठानी। हिटलर के रूस पर हमले के कारण रूस मित्र राष्ट्रों की ओर हो गया। परन्तु भारत की साम्यवादी पार्टी ने इस तथ्य को युद्ध का स्वरूप बदलने के लिए पर्याप्त न समझा और युद्ध का सक्रिय विरोध पूर्ववत् जारी रक्खा। वे इस समाचार से व्यग्र अवश्य हुए और अनेक मासों तक वे यह विश्वास करके अपने मन को समझाते रहे कि चर्चिल ने हिटलर को रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिए उभाड़ा है। परन्तु भारत की साम्यवादी पार्टी स्वाधीन नहीं है। वह ब्रिटिश साम्यवादी पार्टी के द्वारा तृतीय इन्टर-नेशनल के रथ चक्र से बँधी हुई है। उसपर रूसी साम्यवादियों का प्रभुत्व है और वे अपनी नीतियां निर्धारित करने में रुस की वैदेशिक नीति की आवश्यकताओं के अनुसार चलते हैं। भारतीय साम्यवादी पार्टी को बाहर से आदेश मिला कि वह ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य अमरीका को युद्ध-प्रयत्नों में बिना शर्त सहायता दे क्योंकि रूस को मित्रराष्ट्रों की ओर हो जाने से युद्ध का स्वरूप बदल गया था। अब युद्ध फासिस्ट-विरोधी हो गया था। और श्रमिकवर्ग का यह कर्तव्य था कि वह मित्रराष्ट्रों का साथ दे। साम्यवादी पार्टी ने तुरन्त ही इस आदेश का पालन किया और एक नवीन पक्ष प्रतिपादित किया जिसमें मित्रराष्ट्रों को बिना शर्त

सहायता देने की नीति का समर्थन इस कथित आधार पर किया गया है कि अब युद्ध साम्राज्यवादी न होकर जनता का होगया है। यह सोचकर दुख होता है कि साम्यवादी पार्टियां अपने माने हुये सिद्धान्तों और कार्यों के प्रति भूठी सिद्ध हुई हैं। जिस उद्देश्य से लेनिन ने तृतीय इएटरनेशनल की रचना की थी, वहा ताक मे रखा जा चुका है। तृतीय इएटरनेशनल असफल हो चुकी है। इतिहास के साथ कोई भी आँख मिचोनी नहीं खेल सकता युद्ध-जनित सकट ने उसके मुख के ऊपर का आवरण फाड़ डाला है और उसके सच्चे स्वरूप का दर्शन करा दिया है।

हम साम्यवादियों के नवीन पत्त की विस्तार से पर्यालोचना करेंगे और उन ऐतिहासिक कारणों को बताने का प्रयत्न करेंगे जिनसे प्रेरित होकर ससार के साम्यवादी संकट के त्तण में अपने माने हुये सिद्धान्तों को छोड़ने और क्रान्तिकारी समाजवाद को देने को उद्यत हुए हैं। यह कार्य कितना भी अप्रिय हो, सत्य के हित में इसे ईमानदारी से करना ही पड़ेगा।

साम्यवादी मानते हैं कि वर्तमान युग साम्राज्यवादी युग है। कल तक वे युद्ध का स्वरूप साम्राज्यवादी बताते थे। यह रूस का मित्रराष्ट्रों की ओर सम्मिलित होना है जिसने उनके कथनानुसार युद्ध का स्वरूप बदल दिया है। अब वे कहते हैं कि युद्ध फासिस्ट-विरोधी और जनता का बन गया है। हां वे अनिच्छापूर्वक यह अवश्य मानते हैं कि भारत में यह जनता का युद्ध नहीं हो पाया है, परन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि उसे वैसा बनाना जनता का कर्तव्य है और उसके हाथ में है। वे अपनी आशा उन तर्क जालों पर लगाते हैं, जिनसे उनकी समझ मे यह कार्य सिद्ध हो जायगा।

प्रत्येक युद्ध का पृथक रूप से उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अध्ययन किया जाता है जिसमें वह छिड़ता हैं। मार्क्सवाद यह नहीं पूछता कि युद्ध का छेड़ने वाला कौन है बल्कि यह पूछता है कि किस परिस्थिति समूह में युद्ध हुआ है। वर्तमान युद्ध पूँजीशाही, साम्राज्यवाद और युद्धरत देश समूहों को हड़पने की नीति का परिणाम है। राजनीति की चालों को दूसरे ( जोर-जबरदस्ती के ) साधनों द्वारा चलाते रहने का नाम युद्ध है। यथार्थ में यह युद्ध वर्षों पहिले प्रारम्भ हुआ था, और सितम्बर सन् १९३९ की बात उसकी एक आगे की श्रृंखला मात्र थी। इस युद्ध का स्वरूप इसके प्रमुख प्रतिद्वन्दियों की आधारभूत नीतियों और लक्ष्यों को ध्यान में रख कर ही निर्धारित हो सकता है। इसके प्रमुख प्रतिद्वन्दी मल्ल एक ओर इङ्गलैंड और अमेरिका हैं और दूसरी ओर जर्मनी, इटली और जापान। ये सब साम्राज्यवादी हैं। पहिला दल वैभव से छके हुए राष्ट्रों का है और दूसरा उन राष्ट्रों का, जो वसुधा-विभाजन की दौड़ में पीछे रह गये और इसलिए अतृप्त हैं। पहिला समूह अपने साम्राज्य को बनाये रखने के लिए लड़ रहा है और दूसरा अपनी भूमि सीमाओं को विस्तृत करने के लिए। वर्तमान युद्ध साम्राज्यवादी शक्तियों को नवीन संतुलन के अनुसार वसुधा को फिर से विभाजित कर देने के लिए हो रहा है। केवल इस तथ्य से कि रूस जर्मन आक्रमण का शिकार बन गया है, युद्ध का स्वरूप नहीं बदल जाता। यह कहना ठीक होगा कि रूस युद्ध में प्रमुख न होकर, केवल नाजी हमले से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से लड रहा है। अतः उसे उस अटलाण्टिक घोषणापत्र में अपनी सहमति देनी पड़ी जो एक सीमित क्षेत्र पर ही लागू होगा और जो उन सिद्धांतों पर आधारित नही है जिनके ऊपर ही स्थायी और न्यायपूर्ण शांति स्थापित हो सकती है। स्टालिन ने यह भी स्पष्ट कर

दिया है कि रूस पितृभूमि की रक्षा के लिए एक राष्ट्रीय युद्ध लड़ रहा है। स्पष्टतः वह मित्र राष्ट्रों के धनिक वर्ग और सरकारों में भय उत्पन्न करना नहीं चाहता, और इसी कारण से उसे उन आदर्शों को अलग रख देना पडता है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तय करने में समाजवादियों के कार्यकलाप के पथ प्रदर्शक होने चाहिए। इंगलैंड के साथ रूस की युद्ध-मैत्री से इंगलैंड के युद्ध और शांति उद्देश्यों में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी स्टालिन इंगलैंड और अमरीका को एशिया के रक्षक और मुक्तिदाता बना कर उनकी सिफारिश करता है। वास्तव में सच्चाई यह है कि मित्र-राष्ट्रों में से प्रत्येक अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिए लड़ रहा है।

बड़ी शक्तियों के बीच में एक आधुनिक युद्ध जनतन्त्र और फासिज्म के बीच संघर्ष का परिचायक नहीं बल्कि वसुधा के पुनर्विभाजन के निमित्त साम्राज्यवादों के संघर्ष का द्योतक है। "वर्तमान युद्ध को लोकतन्त्र और फासिज्म की विचारधाराओं की टक्कर बताने के प्रयास प्रवंचना भरे और मूर्खतापूर्ण हैं। राज-नैतिक रूपान्तर होते रहते है, परन्तु पूँजीवादी भूख बनी रहती है।" यह युद्ध जर्मनी के विरुद्ध है, फासिज्म के विरुद्ध नहीं; क्योंकि साम्राज्यवादी जनतन्त्र से अपने सजातीय फासिज्म की हत्या करने की आशा नही की जा सकती। वर्तमान युद्ध का उद्देश्य साम्राज्य-वाद को नष्ट करना नहीं है, और इसलिए यह फासिज्म का विध्वंस नहीं कर सकता जो वस्तुतः साम्राज्यवाद का बच्चा है। जब तक साम्राज्यवाद का बोलबाला रहेगा तब तक फासिस्ट प्रतिक्रियावाद भी पनपता रहेगा। युद्धकाल में ये पूँजीवादी जनतन्त्र अधिका-धिक फासिज्म की ओर झुकते जायँगे। युद्ध की आवश्यकतायें उनके ऊपर एक सैनिक दृष्टिकोण की छाप लगा देंगी और उन्हें अधिक तानाशाही प्रकार का बना देंगे। कहा जाता है कि

क्योंकि शांतिकाल में हम फासिज्म द्वारा जनतन्त्र पर पंजे जमाने का प्रतिरोध करते है। अतः हमें युद्ध में भी फासिस्ट सरकारों के विरुद्ध जनतन्त्रों की सहायता करने के लिए समान रूप से उद्यत रहना चाहिये। परन्तु यह भुला दिया जाता है कि हम अपनी संस्थाओं के द्वारा ही जनतन्त्रों का बचाव करते हैं। हम यह स्वतः-कार्य बुर्जुआ राज्य को नहीं सौंपते। यह साम्राज्यवादी युद्ध प्रत्येक राष्ट्र के धनिक वर्ग के सामने मुख्यतः पूँजीवाद के भाग्य का प्रश्न खड़ा करता है। इसी प्रकार ससार के श्रमिक वर्ग के सामने प्रश्न खड़ा होना चाहिए: पूँजीवाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक क्रांति के द्वारा समाजवाद।

इस तथ्य पर बहुत बल दिया जाता है कि सभी फासिस्ट राज्य एक ओर हैं। यह टीक विवेचन नहीं है। धुरी-राज्य के अतृप्त राष्ट्र हैं जो वसुधा का पुनर्विभाजन जी जान से चाहते हैं। वे यदि संग-ठित न होते, तो कभी भी अपनी योजनाओं में सफल होने की आशा नहीं कर सकते थे। उनकी शत्रुता मुख्यतः बड़े जनतन्त्रों के प्रति है क्योंकि वे ही उन्हें दबा कर खड़े हुए हैं। परन्तु जिस प्रकार साम्राज्यवादी जगत् में फूट है उसी प्रकार फासिस्ट शक्तियों में दरार होना कुछ भी असामान्य न होगा। कौन नहीं जानता कि मध्य यूरोप और बालकन देशों में इटली और जर्मनी के हितों में परस्पर विरोध है? यह भी कौन नहीं जानता कि सन् १९३४ और १९३५ में वे आस्ट्रिया में घोर युद्ध में जूझे थे? कुमिन्टर्न-विरोधी शक्तियों का साम्यवाद विरोध अपने हड़पने के उद्देश्यों को छिपाने का धूमिल पट है। राजनैतिक गुटबन्दी करने में राज्य आदर्शों से नहीं, अपितु स्वार्थों से चालित होते हैं। पार्लियामेंटीय जनतन्त्र हिटलर से लड़ने के लिए फासिस्ट अथवा अर्ध-फासिस्ट सैनिक तानाशाही का बड़ी प्रसन्नता से स्वागत करते हैं। और यदि

वास्तव में देखा जाय तो क्या पोलैंड एक अर्द्ध फासिस्ट राज्य नहीं था जिसकी अक्षुण्य सुरक्षा का इंगलैंड और फ्रांस ने वचन दिया था और जिसकी खातिर वे युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। और लीजिये, क्या यूनान जनतन्त्रों का साथी नहीं है—यूनान जिस पर ठस जनरल मेटेक्सस का शासन था जिसने सन् १६३६ में अपनी तानाशाही स्थापित की और जो सन् १६३८ में जीवनभर के लिए प्रधानमंत्री बन बैठा? यह कहना ठीक नहीं है कि जनतन्त्रीय राज्य फासिस्ट राज्यों से घृणा करते थे और उनके प्रति अस्पृश्य वहिष्कृतों का सा व्यवहार करते थे। इसके विपरीत उन्होंने उन्हें मनाया, उनकी चापलूसी की और उन्हें अपनी ओर मिलाने की कोशिश की जैसा फ्रांको के स्पेन के साथ किया गया) परन्तु हिटलर की सफलतायें उन्हें दूसरी ओर खींच ले गईं।

इस तथ्य का भी खूब लाभ उठाया जाता है कि इंगलैंड सोवियत रूस की ओर है और इस आधार पर यह कहा जाता है कि अब युद्ध को साम्राज्यवादी बनाना सम्भव नहीं है। यह युक्ति उतनी ही अच्छी अथवा बुरी है जितनी यह युक्ति। क्योंकि इस युद्ध में सोवियत रूस साम्राज्यवादी इंगलैंड की ओर है अतः इसको श्रमिक जनता का युद्ध कह कर पुकारना असम्भव है।

वर्तमान युद्ध किसी भी प्रकार से जनता का युद्ध नहीं समझा जा सकता। मुख्य रूप से वह साम्राज्यवादी ही बना हुआ है। यदि कोई युद्ध पराधीन जाति के द्वारा विदेशी शासकों के विरुद्ध अपनी मुक्ति के लिए लड़ा जाय, अथवा यदि जनता धनिक वर्ग और अपनी राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करे और इस नारे के अनुसार आचरण करे कि "साम्राज्यवादी युद्ध को घरेलू युद्ध में परिणित कर दो," तो हम उसे जनता का युद्ध कहेंगे। परन्तु जहां राज्य

का अपनी युद्ध-नीतियों में उसके विशाल नागरिक-समूहों द्वारा केवल पृष्ठ-पोपण होता है, वहां यह नहीं कहा जा सकता कि युद्ध जनता का हो गया है। सरकार के पीछे जनसमुदाय का संगठित होना एक बात है और जन समुदाय की हांक पर सरकार का उसके साथ हो लेना दूसरी बात। इस मत के अनुसार जब से चर्चिल इंगलैंड का प्रधानमन्त्री हुआ तब से जर्मनी के विरुद्ध इंगलैंड का युद्ध जनता का युद्ध हो गया मानना चाहिये।

हम सब जानते हैं कि खूब सुसंगठित श्रमिक वर्ग की पार्टियों के लिए भी "साम्राज्यवादी युद्ध को घरेलू युद्ध में परिणित करदो" इस नारे के अनुसार आचरण करना कितना कठिन है, पूँजीवादी देशों में उग्रराष्ट्र-भक्ति खूब है और श्रमिक वर्ग भी सङ्कट के अवसरों पर उसकी लहर में वह जाता है। पिछले युद्ध में और वर्तमान युद्ध में भी श्रमिकों ने साधारणतः अपनी सरकारों का साथ दिया है।

आज की सरकारों को विराट जनसमुदायों का सहारा मिल रहा है। यह समझना गलत होगा कि जर्मन जनता हिटलर का पक्ष नहीं ले रही है। जनता को उसके शासक उल्लू बना रहे हैं और वह सहज ही युद्धोन्माद का शिकार बन गई है। अतः केवल इस तथ्य से कि किसी देश-विदेश की जनता अपनी सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में इस समय साथ दे रही है, युद्ध न तो जनता का बन जायगा, और न न्यायपूर्ण और प्रगतिशील। जापान पिछले अनेक वर्षों से चीन के साथ अनियमित युद्ध लड़ता रहा है, यद्यपि युद्ध-घोषणा अभी हाल में ही हुई है। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका भी जापान के विरुद्ध शत्रुता की घोषणा न करके, कुछ समय पूर्व से बड़े २ ऋण और युद्ध सामग्री देकर चीन की

सहायता करते हैं। इन कार्यवाहियों को खुला और नियमित रूप दे देने से वस्तुस्थिति का मूल रूप नहीं बदला है। रूस और जापान अब भी एक दूसरे से नहीं लड़ रहे हैं। चीन का युद्ध विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध जनता का युद्ध है परन्तु इंगलैंड और अमरीका के साथ हुई उसकी हाल की मैत्री से, सम्पूर्ण युद्ध का स्वरूप नहीं बदल जावेगा। यदि ऐसा होता, तो वर्तमान युद्ध को किसी भी समय साम्राज्यवादी समझा जाना चाहिये था।

एक असली जनता की लड़ाई का परिणाम पूँजीवादी जनतन्त्र और फासिज्म दोनों के साम्राज्यवाद का ध्वंस होना चाहिये। परन्तु यह कहने का साहस शायद ही कोई करे कि वर्तमान युद्ध साम्राज्यवाद को नष्ट करने के लिए लड़ा जा रहा है। उसका अर्थ यह होगा कि ब्रिटिश और अमरीकी सरकारें अपने आपको मिटा देने के लिए युद्ध कर रही हैं।

पिछले युद्ध के समय सामाजिक जनतन्त्रियों (social-democrate) ने इसी प्रकार का तर्क देकर कहा था कि युद्ध के स्वरूप में एक राष्ट्रीय तत्व भी विद्यमान है जैसा कि आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्विया के युद्ध से स्पष्ट लक्षित होता है। लेनिन ने उनके वाग्जाल को उधेड़ कर दिखा दिया और उन्हें निम्न उत्तर दिया—केवल सर्विया में और वह भी भूमिजीवियों में हमें स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन दिखाई देता है जो दीर्घकाल से चल रहा है, जिसके पीछे लाखों राष्ट्रवादी जन हैं, और सर्विया आस्ट्रिया के बीच का युद्ध जिसका चलते रहना-मात्र है। यदि यह युद्ध बिल्कुल पृथक होता, अर्थात् यदि इसका विस्तृत यूरोपीय युद्ध और इंगलैंड, रूस इत्यादि के स्वार्थमय और लुटेरेपन के उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध न होता, तो सभी समाजवादी सर्विया के बुजुआ जनों

की सफलता की कामना करते। वर्तमाम युद्ध में राष्ट्रीय तत्व से यही एकमात्र सही और अनुपेक्षणीय निष्कर्ष निकाला जा सकता है। विस्तृत यूरोपीय युद्ध में सर्विया आस्ट्रिया युद्ध के राष्ट्रीय तत्व का न कोई अर्थ है और न हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम प्रत्येक बात को सोवियत रूस के हितों की दृष्टि से सोचें। रूस इस समय हिटलर के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए लड़ते हुए मित्रराष्ट्रों की ओर है अतः विश्व के श्रमिक-वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह मित्रराष्ट्रीय सरकारों का साथ दे। परन्तु किसी भी प्रश्न पर केवल एक दृष्टिविन्दु से विचार करना गलत होगा, चाहे वह दृष्टिविन्दु कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। मार्क्सवादी तर्क-पद्धति हमें वस्तुस्थिति को उसके सम्पूर्ण और उलझे हुए स्वरूप में समझने की शिक्षा देती हैं। यह बिलकुल असत्य प्रचार है कि वर्तमान युद्ध किसी भी ओर से स्वतंत्रता और लोकतन्त्र के लिए हो रहा है। संतृप्त शक्तियां अपना वैभव ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती हैं और अपने पूंजीवादी वर्ग-हितों पर आँच नहीं आने देना चाहतीं। क्या हम अपनी आंखों के सम्मुख नहीं देख रहे कि नागरिक अधिकार कम किये जा रहे हैं, जनता को करों के भार से दबाया जा रहा है, और उससे धनिक वर्ग के लिए अपना बलिदान करने का अनुरोध किया जा रहा है। क्या यह भी सच नहीं है कि भारत, मिश्र, और अफ्रीकी उपनिवेश अभी तक गुलामी में जकड़े हुए हैं?

यह भी कहा जाता है कि न्याय, स्वतन्त्रा और समानता पर आधारित नवीन विश्व-व्यवस्था इस युद्ध का सीधा परिणाम होगी। यह आशा इस झूठे विश्वास के कारण लगाई जाती है कि युद्ध

समाप्ति पर शांति कांफ्रेंस में रूस और चीन का निर्णयात्मक हाथ होगा। यह एक भ्रम है जिससे हमें बचना चाहिये। इस बार मित्र राष्ट्रों की जीत होने की दशा मे शांति-सन्धि में मुख्यतः अमरीका की बात चलेगी। यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि इंगलैंड और अमेरिका स्टालिन के हाथ की कठपुतली हैं और वह उनसे अपना काम करा रहा है। जिस प्रकार गत काल में इंगलैंड ने पूँजीवाद का सबसे अधिक शक्तिशाली प्रतिनिधि होने के नाते, पिछले युद्ध की शांति सन्धि पर अपना मन्तव्य लादा था, उसी प्रकार वर्तमान समय में, अमरीका पूँजीवाद का सबसे शक्तिशाली प्रतिनिधि होने के कारण इस बार की शांति-सन्धि में मनचाही करेगा। सम्भावना यह है कि अमेरिका प्रशांत-क्षेत्र में अपना प्रभाव जमा लेगा कि और इंगलैंड अन्य क्षेत्रों में अपना 'वरदहस्त' रखने का दावा करेगा। हां, रूस का अपने खोये हुए भूमि भागों की पुनः अखण्डता प्राप्त हो जायगी। केवल ब्रिटेन और अमरीका के स्वार्थ वहां अवश्य बने रहेंगे। यह इसलिए होगा क्योंकि ये देश चीन के युद्ध-प्रयत्नों को मुख्यतः अपने हितों में आर्थिक सहायता देते रहे हैं। यदि जापानी साम्राज्यवाद चला भी गया, तो ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद बने रहेंगे। रूस और चीन अपने साथी राष्ट्रों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न कर पायेंगे। आगामी वर्षों में अमरीका के ऊपर उनकी आर्थिक निर्भरता उन्हें अधिक स्वतन्त्र दिशा न अपनाने देगी।

परन्तु युद्ध क्रांतियों के भी जनक होते हैं। किन्तु यह भविष्य-वाणी करना कठिन है कि वे क्रांतियाँ युद्ध-काल में होंगी अथवा उसके अन्त समय में। सम्भावना यह है कि युद्ध के अनन्तर एक शृंखला में अनेक क्रांतियां होंगी। युद्ध के निर्णय अन्तिम नहीं होंगे। जन क्रांतियों द्वारा उनमें संशोधन किये जांयगे। ऐतिहासिक

विकास उस अवस्था पर पहुँचता जा रहा है जब विश्व की व्यवस्था में जनता सीधा भाग लेगी। हमें उस आने वाली चीज के लिए अपने आपको तैयार करना है। हमारा कार्य उस दिशा मे है। हमें जनसमुदाय में क्रान्तिकारी भावना को जगाना और बढ़ाना चाहिये और उसे क्रान्तिकारी कार्यों के लिए तैयार करना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि तृतीय इण्टर नेशनल ने क्यों अपने माने हुए सिद्धांतों और कर्त्तव्यों के प्रति गद्दारी की है? इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसने अग्निपरीक्षा की ऐतिहासिक घड़ी में अपना खोखलापन सिद्ध कर दिया है और जिस उद्देश्य से लेनिन महान् ने उसका निर्माण किया था, उसकी सिद्धि करने में असफल रही है। यह पूछना सार्थक है कि क्यों तृतीय इण्टरनेशनल का ऐसा दुःखद अन्त हुआ है। इसके लिए उसके ऐतिहासिक विकास पर संक्षेप में दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। मूल तथ्य यह है कि तृतीय इण्टरनेशनल सोवियत रूस की राष्ट्रीय राजनीति की पिछलग्गू है, और स्टालिन के अधीनस्थ सोवियत नौकरशाही सोवियत रूस को किसी भी बड़े युद्ध से दूर रखना चाहती थी। उसकी समस्त वैदेशिक नीतियाँ इसी ध्येय को लिए हुए थीं। इसी दृष्टि से सातवीं विश्व कांग्रेस (१९३५) ने युद्ध और फासिज्म को रोकने के लिए संयुक्त मोर्चे के हथकण्डे पकड़े। तृतीय इण्टरनेशनल किसी भी मूल्य पर शांति चाहती थी। उसे भली भांति ज्ञात था कि यदि विश्व में युद्ध हुआ तो सोवियत रूस को भारी खतरा उठाकर उसमें भाग लेना पड़ेगा। अतः विश्व की श्रमजीवी-पार्टियों का यह कर्तव्य हुआ कि वे शान्ति और मौजूदा व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाये रखने के प्रयत्न करें। स्पष्टतः इन्टरनेशनल वाले यह भूल गये कि सोवियत रूस के हितों की रक्षा अन्ततः केवल संसार व्यापी

पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी कार्यशक्ति का विकास करके ही हो सकती है, बुर्जुआ राज्यों की मैत्री पर भरोसा करके नहीं।

युद्ध को अधिकाधिक समय तक दूर रखना उत्तम था, परन्तु राष्ट्र-लीग (League of nations) सरीखे टूटे तिनके पर और सम्मिलित सुरक्षा पर भरोसा करना घातक था। स्टालिन ने राष्ट्र लीग को साम्राज्यवादी लुटेरों का गिरोह बतलाया था। सन् १६२७ में उसने कहा था "साम्राज्यवादी चालों को छिपाने के लिए लीग आफ नेशन्स की जो आड़ बनाई गई है, सोवियत राष्ट्र उसका भाग बनने के लिये तैयार नहीं है। लीग वह टट्टी है जिसकी ओट में साम्राज्यवादी नेता मिलते और अपना खेल खेलते हैं" परन्तु सन् १६३४ में जब स्वयं सोवियत राष्ट्र लीग में सम्मिलित हो गया, तब यह राग बिलकुल बदल गया। अब साम्यवादी 'आततायी' और 'रक्षारत' राष्ट्रों में भेद करने लगे। १० मार्च सन् १६३६ को स्टालिन ने यह कहा था :—"युद्ध आक्रान्ता राष्ट्रों द्वारा लड़ा जा रहा है। वे अनाक्रमणशील राज्यों के हितों पर कुठाराघात कर रहे हैं—विशेषकर इङ्गलैंड, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका में।" इस विभेद का एक और रूप वह है जिसके द्वारा वे शान्ति-प्रिय साम्राज्यवादियों का प्रभेद करते हैं। उन्होंने लीग से कहा कि वह आक्रांता राष्ट्रों को दण्ड दे और शान्ति-प्रिय पूँजीवादी राष्ट्रों का पक्ष ले। हमारे इस युग में दो साम्राज्यवादी राज्यों के बीच इस प्रकार के भेद करना मार्क्सवाद के साथ खींचा-तानी करना है। मार्क्सवाद किसी युद्ध का स्वरूप इस प्रश्न के उत्तर पर नहीं निर्धारित करता कि उस युद्ध को किसने छेड़ा है। सचाई यह है कि वैभव से छके हुये राष्ट्र शान्ति प्रिय इसलिए लगते थे क्योंकि वे मौजूदा अवस्था में तनिक भी हेर फेर नहीं चाहते थे। साम्यवादी लोग प्रजातन्त्रीय पूँजीवादी राज्य और फासिष्ट

राज्य में भी भेद करते हैं और इस आधार पर उन्होंने कहा कि फासिष्ट देशों के हमलों से प्रजातन्त्रीय राज्यों की रक्षा करना आवश्यक है। उन्होंने यह भी घोषणा की कि वह युद्ध जिसमें एक ओर सोवियत रूस के साथ प्रजातन्त्रीय पूँजीवादी देश हों और दूसरी ओर जर्मनी हो, साम्राज्यवादी युद्ध नहीं होगा।

यह मजेदार बात है कि देशभक्त सामाजिक जनतन्त्रियों द्वारा, जो पितृभूमि की रक्षा करने और राष्ट्रीय बुर्जुओं का साथ देने के पक्ष में थे, पिछले विश्व युद्ध के समय में, ऐसे ही तर्क उपस्थित किये गये थे। शीडमैन और नौरक ने जारशाही बर्बरता के विरुद्ध प्रगतिशील जर्मनी का पक्ष लिया, और ग्वेसडे और वेलां ने निरंकुश जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्रीय फ्रांस का। उन्होंने यह भी युक्ति उपस्थित की कि हमारे ऊपर आक्रमण किया गया है हम अपनी रक्षा करते हैं, श्रमिक वर्गों के हितों का तकाजा है कि वे यूरोपीय शान्ति को भंग करने वाले का प्रतिरोध करे। इन हेत्वाभासों की पोल लेनिन ने खूब खोली थी। उसने कहा था, "सभी सरकारों की घोषणाओं में और संसार-भर के बुर्जुआ लोगों की और पीले प्रेस की लम्बी चौड़ी बातों में यही राग अलापा गया है।"

साम्यवादियों ने पहिले कहे अनुसार, फासिज्म के विरुद्ध बुर्जुआ जनतन्त्र का पक्ष लिया और फासिज्म के विरुद्ध जहाँ कहीं सम्भव हुआ, जनता का मोर्चा लगाने लगे। यदि फ्रांस, संविधान-फ्रांस सोवियत रूस से मैत्री करने को तैयार होजाता, तो रूस इस युद्ध में प्रारम्भ से ही मित्रराष्ट्रों की ओर होता और उस अवस्था में संसार भर की साम्यवादी पार्टियों को निर्देश किया जाता कि वे मित्रराष्ट्रीय सरकारों की बिना शर्त सहायता करें। जब म्यूनिक वार्ता

से पहिले यह समझा गया कि सम्भवतः लड़ाई शीघ्र प्रारम्भ हो जाय, तो यह पूछा जाने लगा कि भारतीय साम्यवादियों का युद्ध के प्रति क्या रवैया होगा। उस समय यह मानी हुई बात थी कि हिटलर के विरुद्ध युद्ध होने की अवस्था में सोवियत रूस इङ्गलैंड और फ्रांस का पक्ष लेगा। कुछ लोगों ने कहा कि ऐसी दशा में भारतीय साम्यवादियों को युद्ध में सहायता देनी पड़ेगी परन्तु हमारे साम्यवादी मित्रों ने इस बात का दृढ़ता से खण्डन किया और कहा कि रूस के इङ्गलैंड और फ्रांस की ओर होजाने से युद्ध का साम्राज्यवादी स्वरुप नहीं बदल जायगा। भारतीय साम्यवादियों के सौभाग्य से रूस का इङ्गलैंड से गठबन्धन नहीं होपाया और स्टालिन ने सफलतापूर्वक हिटलर के साथ (जो दो मोर्चों पर युद्ध करने से बचने को उत्सुक था) अनाक्रमण सन्धि की वार्ता सम्पन्न करली। भारतीय साम्यवादी, इस प्रकार, युद्ध में सहायक होने की आवश्यकता से बच गये, और अब वे स्वच्छन्दता-पूर्वक युद्ध को साम्राज्यवादी कहकर पुकार सकते थे। साथ ही साम्यवादियों के लिए यह भी आवश्यक था कि वे जर्मन-सोवियत समझौते को संकट में डालने वाला कोई कार्य न करें, अतः उन्हें जर्मन साम्यवादियों को निर्देश करना पड़ा कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे हिटलर नाराज हो जाय, और उसे समझौते को भंग करने का बहाना मिले। समझौते को बनाये रखने की उत्सुकता के कारण, उन्हें हिटलर के शान्ति प्रयासों की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न रखना पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर खूब कालिख पोती गई और उसे युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। यह उस सबके बिलकुल उल्टा था जो वे लोकप्रिय मोर्चे (Popular Front) के दिनों में कहा करते थे। उन दिनों फासिज्म की तुलना में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कम बुरा बताया जाता था और श्रमिकवर्ग

से कसा जाता था कि वह फासिट देशों के आघातों से उसकी रक्षा करे। परन्तु जर्मन-सोवियत समझौता अधिक दिन न चल सका और हिटलर ने आखिर सोवियत राष्ट्र पर चढ़ाई करने की ठानी। उस समय भी, भारतीय साम्यवादियों ने युद्ध के प्रति अपना रवैया बदलने की आवश्यकता न समझी। मित्रराष्ट्रों के साथ रूस के मिल जाने पर भी, वे युद्ध को साम्राज्यवादी ही बनाते रहे। इस कथन की पुष्टि में हम जुलाई सन् १६४१ में भारत की साम्यवादी पार्टी के पोलिट-ब्यूरो द्वारा प्रकाशित 'सोवियत जर्मन युद्ध' शीर्षक लेख से निम्न उद्धरण देना चाहेंगे :—

'साम्यवादी पार्टी घोषणा करती है कि भारतीय जनता के लिए सोवियत राष्ट्र के न्यायपूर्ण युद्ध में सहायक होने का केवल यही एक मार्ग है कि वह साम्राज्यवादी शिकंजे से मुक्ति पाने के लिए और भी जोर से संघर्ष करे। ब्रिटिश सरकार और उसके साम्राज्य-वादी युद्ध के प्रति हमारा रुख वही है जो पहिले था। हमें इन दोनों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी ही नहीं रखना चाहिये बल्कि उसे बढ़ाना चाहिये। हमारी नीति में तब तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक कि एक ऐसी जनता की सरकार सत्तारूढ़ नहीं हो जाती जो इस युद्ध में और उपनिवेशों में स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी उद्देश्यों को तिलांजलि दे दे। हम स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से ही सोवियत रूस की सचमुच काम की सहायता दे सकते हैं। इस कारण से हमें एक होकर, रूस के साथी होने के प्रदर्शन करने के साथ साथ, चर्चिलों और रूजवेल्टों की साम्राज्यवादी मक्कारी की पोल खोलनी चाहिए और अपने स्वतन्त्रता-संग्राम को तेजी से चलाने की माँग करनी चाहिए।"

परन्तु जैसे जैसे युद्ध चलता गया, साम्यवादी क्षेत्रों में यह सोचा जाने लगा कि अब युद्ध का स्वरूप बदल गया है, रूस की

हार से साम्राज्यवाद कमजोर न होकर अधिक शक्तिशाली बनेगा और इसलिए उन्हें सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में, बिना कोई शर्तें लगाये सहयोग करना चाहिए। सी० सी० सी० ने ३० अक्टूबर सन् १६४१ के अपने एक पार्टी पत्र (जिल्द १, संख्या ५३) इस विचार-शृंखला की विस्तारपूर्वक समीक्षा करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला था कि जितने परिमाण में जनता साम्राज्यवादियों और उनके शासन के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्राप्त कर लेगी उतने ही परिमाण में वह अन्तर्राष्ट्रीय जनमोर्चे पर, फासिज्म के विरुद्ध सोवियत जनता और विश्व की जनता के लिए युद्ध जीतने में सहायक हो सकेगी। जो लोग कहते हैं कि साम्राज्यवादी अपने वैषम्य-विरोधों से बाध्य होकर रूस की पूरी सहायता कर रहे हैं, और भारतीय जनता को केवल उन्हें सहायता देनी है वे लोग न तो जनतावादी नीति का निरूपण करते हैं और न अन्तर्राष्ट्रवादी नीति का। वे केवल साम्राज्यवादी असत्य को प्रतिध्वनित करते हैं। जनता पर, श्रमिकवर्ग पर भरोसा करना, साम्राज्यवादियों पर न हो यह सच्चा अन्तराष्ट्रवादी नीति का मूलतत्व है। जो लोग कहते हैं कि हम ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में सहायक होकर सोवियत राष्ट्र का साथ दे सकते अथवा जनता के लिए युद्ध जीत सकते हैं, वे झूठे अन्तर्राष्ट्रवादी और जनता को धोखा देने वाले हैं।"
भारतीय साम्यवादी जनतावादी मोर्चे के हथकंडों के वातावरण में नहीं पले थे, अन्यथा अपने युद्ध-सम्बन्धी विचारों को बदल लेने में उन्हें अधिक देर नहीं लगती। फिर इङ्गलैंएड के साथ भारत के सम्बन्धों ने भी उन्हें अपने विरोधी रवैये को छोड़ने से रोका।

परन्तु आखिर बाहर से युद्ध में साथ देने का आदेश आया, और उन्हें अपने निश्चय के विरुद्ध उसके सामने सिर झुकाना पड़ा अब उनके लिए अपने परिवर्तित रवैये की पुष्टि में नया राग

अलापना आवश्यक हो गया । वे अब कहने लगे कि युद्ध जनता का हो गया है और इस कारण उसमें योग देना चाहिए।

जनतावादी मोर्चे की नीति ने संसार के साम्यवादियों को जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने की अवस्था में इस प्रकार की कठिवाई करने के लिए तैयार कर लिया था। जनता की लड़ाई शब्द-समूह का प्रयोग जान बूझकर विचार-विभाग उत्पन्न करने के लिए किया गया है। इसका वास्तविक अर्थ है फासिष्ट राज्यों के विरुद्ध जनतन्त्रों की लड़ाई, परन्तु जिन शब्दों में यह विचार व्यक्त किया गया है उनसे यह असत्य धारणा उत्पन्न होती हैं कि अपने अधिकारों को प्राप्त करने के निमित्त जनता इन युद्ध को चलाने में अगुआ बन रही है। 'लोकप्रिय मोर्चें' के समय से यह शब्द-समूह फिर से प्रचलित हो गया हैं। जनतावादी-मोर्चा-सरकार (people's front government) के स्वरूप के वारे में कहा गया था कि वह न बुर्जुआ सरकार है और न श्रमिकवर्गीय, अपितु जनता की सरकार है अर्थात् नाजी-विरोधी राजनैतिक दलों का गुट है। जो युद्ध फासिष्टों के विरुद्ध फासिष्ट-विरोधी तत्वों द्वारा लड़ा जायगा—चाहे वह किसी भी (भले ही बुर्जुआ) नेतृत्व में क्यों न हो—वह जनता का युद्ध होगा। अतः उनका विचार है कि युद्ध को सरलता से प्रजातन्त्रीय अथवा जनता के युद्ध में परिणत किया जा सकता है यदि सरकारें वास्तव में फासिष्ट-विरोधी हों और इसकी पहिचान यह है कि इस युद्ध में वे सोवियत रूस का साथ देने को तैयार हैं।

आक्रमण होने की अवस्था में, लोग सम्भवतः आक्रान्ता से पितृभूमि की रक्षा करने में प्रवृत्त होंगे और यदि उनकी सरकार शत्रु से डट कर लड़ना चाहे तो उसका साथ देने की सोचेंगे। क्रांतिवादी समाजवादियों और साम्यवादियों का यह काम है कि

क्रांति-भावना जगाने के लिए इस युद्ध का साम्राज्यवादी स्वरूप उन्हें खोल कर बता दें। साम्यवादियों में समाजवाद के साथ विश्वासघात किया है और इस युद्ध में बिना शर्त सहायता देने के अपने पक्ष को ठीक सिद्ध करने के लिए मार्क्सवाद और उसकी तर्कपद्धति के साथ खींचातानी की है। यह हमारा इन्कलाबी कर्तव्य है कि हम उन सामाजिक उग्र-राष्ट्रवादियों की पोल खोलें जो सोवियत रूस के प्रति श्रमिकों की सहानुभूति का अनुचित लाभ उठा कर इस साम्राज्यवादी युद्ध में उन मित्रराष्ट्रीय बुर्जुआ सरकारों के लिए उनकी सहायता प्राप्त कर रहे है जो अपने पूँजीवादी वर्ग-हितों को सुरक्षित रखने के लिए लड़ रही हैं।

संसार एक संकट काल में से गुजर रहा है। उससे प्रत्येक राजनैतिक पार्टी का सच्चा स्वरूप प्रकट होता जा रहा है। हमें चाहिये कि हम अपने सिद्धांतों का फिर से मनन करें और संकट-क्षण में उनके ऊपर दृढ़ता से डटे रहें।

————

: ८ :

# आगे बढ़ना (१९४५)

१—साम्प्रदायिक समस्या एक समाजवादी दृष्टिकोण (१९४५)

२—प्रश्न और उत्तर (१९४५)

३—भारत और युद्धोत्तर जगत् (१९४५)

४—विद्यार्थियों से (१९४६)

५—केबिनेट मिशन और भारत (१९४६)

६—जनसाधारण और कांग्रेस (१९४६)

७—९ अगस्त पर (१९४६)

# आगे बढ़ना

## [१]

## साम्प्रदायिक समस्या एक समाजवादी दृष्टिकोण (१६४५)*

सारा संसार संकट-काल में से गुजर रहा है और भारत उसका कोई अपवाद नहीं है। वह संकट इतना गहरा है कि प्रत्येक मानव-कार्य-क्षेत्र पर उसका भारी प्रभाव पड़ा है। अब पुरानी स्थिति और अवस्थाओं को फिर से ले आना असंभव होगया है। सब ओर पुरानी संस्थायें ढहती जा रही हैं, और नवीन संस्थायें और विचार परम्परायें उनका स्थान लेती जा रही हैं। इस संकट-काल में यदि हम अवसर के अनुकूल ऊपर उठकर रचनात्मक योग्यता, नीतिज्ञता, और साहस का परिचय देंगे तो हमारा सम्पूर्ण भविष्य खटाई में पड़ सकता है। हम इस समय चौराहे पर खड़े हैं, और एक भी गलत कदम हमें गलत रास्ते पर लेजा सकता है। अतः हम आज जो मार्ग चुनेंगे उसपर बहुत कुछ निर्भर करेगा।

---

*असोशियेटेड प्रेस आफ इण्डिया को लखनऊ में २२ जून सन् १६४५ को एक भेंट में दिया गया।

ऐसे समय में, ज़बकि भारतीय अखाड़े में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए होड़ मची हुई है, और प्रत्येक समुदाय उसका अधिक से अधिक भाग हथिया लेने के लिए जोर लगा रहा है, साम्प्रदायिक नोंक झोंक के जोश में मूलभूत मसलों के दृष्टि से ओझल होजाने का भारी भय है। ऐसे वातावरण में प्रजातन्त्र का दम घुट सकता और जनसाधारण को भुलाया जा सकता है। अतः लोगों को यह याद दिला देना आवश्यक है कि वर्तमान विश्व-स्थिति की भूमिका में, स्वतन्त्रता का हित-साधन तभी हो सकता है जब हम वृहद् सामाजिक प्रयोगों के लिए और विस्तृत आधार के जनतन्त्र के लिए अपनी प्रस्तुतता दिखलावें। स्वतन्त्रता को वे लोग न प्राप्त कर सकते और न स्थिर रख सकते हैं, जो दब्बू हैं जो संकीर्ण जाति पाँतिवादी दृष्टिकोण वाले हैं, जो बड़े परिवर्तनों से डरते हैं और जिनमें यह देख लेने की सूझ बूझ नहीं है कि आगन्तुक भविष्य हमसे क्या चाहता है। हम या तो अपने मार्ग पर लम्बे कदम आगे बढ़ा सकते हैं या उल्टे कदम पीछे लौट सकते हैं। इसमें बीच का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता।

कुछ ऐसे विचार हवा में उड़ रहे हैं, जिनकी आलोचनात्मक समीक्षा होने की आवश्यकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम विचारों से नही बल्कि नारों से प्रभावित होते हैं। परन्तु जब तक हम अपने भ्रम दूर नहीं करेंगे, तब तक निर्भ्रान्त विचार करना सम्भव न होगा। एक ऐसा नारा जिसने लोक-मानस को प्रभावित किया है योजनात्मक अर्थव्यवस्था (planned economy) का है। लोगों को यह विश्वास होने लगा है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था में कोई रहस्यमय शक्ति है। परन्तु सचाई यह है, कि योजनात्मक अर्थव्यवस्था स्वयं अपने में, एक निरर्थक वस्तु है।

प्रश्न है कि उस अर्थ व्यवस्था की योजना अल्पसंख्यकों के लिए हो रही है अथवा बहुसंख्यकों के लिए। हिटलरी शासन में जर्मन अर्थ व्यवस्था योजनात्मक थी। परन्तु कोई भी यह नहीं कहेगा कि उसने समाज को सभ्यता और जनतन्त्र के लिए व्यवस्थित किया। किसी न किसी प्रकार की योजनात्मक अर्थ व्यवस्था आजकल अनिवार्य होगई है और युद्ध के पश्चात् किसी देश में पहली सी अवस्थायें नहीं लौट सकेंगी। जो अर्थ व्यवस्था एक समानता पूर्ण समाज का निर्माण करना नहीं चाहती, उसका परिणाम होगा जन-तन्त्रीय संस्थाओं का परित्याग।

ऐसा एक और नारा कांग्रेस-लीग एकता का है जिसको हिन्दू-मुस्लिम एकता के बराबर बताया जा रहा है, परन्तु यह केवल एक धोखा और प्रपञ्च है। प्रत्येक सच्चे देश-प्रेमी को साम्प्रदायिक एकता का पक्षपाती होना चाहिये। साम्प्रदायिक शांति और सदभावना वांछनीय चीजें हैं, और हमें उन्हें लाने का यत्न करना चाहिये। मैं यह भी मानता हूं कि समझौते और राजीनामे इस कार्य में सहायक होते हैं। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि सम्प्रदायों में एकता होते होते होती है। समझौते अस्थायी उद्देश्यों को सिद्ध करने के अस्थायी उपाय तो होते हैं, परन्तु सम्प्रदायी एकता एक दूसरी ही चीज है जो धीमे धीमे बड़ी कठिनता से पैदा होती है।

समझौते अवश्य ही इस प्रक्रिया को अधिक गतिशील तो बना सकते हैं, परन्तु इसका स्थान नहीं ले सकते। आबादी की अदला-बदली के बिना पाकिस्तान बने या न बने, साम्प्रदायिक समस्या को तो सुलझाना ही पड़ेगा। और वह इसी तरह सुलझ सकती है कि देश की हिन्दू-मुस्लिम जनता पर समान रूप से असर डालने

वाले आर्थिक मसलों पर जोर दिया जाय। उनके आर्थिक हित एक से हैं, और समान हितों के आधार पर ही एकता स्थापित हो सकती है। समान आर्थिक हितों के लिए सम्मिलित संघर्ष करने से ही उनमें एकता की जड़ जमेगी।

मैं निस्सन्देह लीग के साथ साम्प्रदायिक प्रश्न पर समझौते का स्वागत करूंगा, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं राजनैतिक क्षेत्र में उसके साथ सम्मिलित कार्य का पक्षपाती हूँ। जब तक दृष्टि-कोण और लक्ष्यों की समानता न हो, तब तक इस प्रकार की एकता या तो अल्पकालीन होगी अथवा देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को दृढ़तर बनाने में परिणामित होगी। हां, उन विशिष्ट मसलों पर जिनमें सहमति सम्भव हो, लीग के साथ संयुक्त मोर्चा बना लेना बुरा नहीं है।

मैं साम्प्रदायिक एकता में और देश की सब प्रगतिशील शक्तियों की राजनैतिक एकता में विश्वास करता हूं। मैत्री-सम्बन्ध करने मे हमें किसी संस्था के प्रगतिशील स्वरूप पर विशेष ध्यान देना चाहिये, उसके धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक स्वरूप पर नहीं। मै जानता हूं कि कुछ क्षेत्रों में मेरे मत को अनर्गल बताया जायगा, और बहुत से गण्यमान्य व्यक्ति उसे पसन्द नहीं करेंगे, परन्तु मुझे लोक-मानस में हलचल मचाने वाले प्रश्नों पर अपने विचार साफ २ रख देने में संकोच नहीं करना चाहिए।

मैं वर्तमान स्थिति की भारी उलझन को समझता हूँ और यह भी जानता हूँ कि उसको सुलझाने के लिए कोई सरल तरीका नहीं निकाला जा सकता, परन्तु पास की और दूर की नीतियां सदैव होती हैं। यदि हम स्पष्ट रूप से यह समझे हुए हैं कि हमें जन

समुदाय के हितों में क्या करना है, तो हम विवश होने पर, अस्थायी रूप से ऐसी व्यवस्था को अङ्गीकार कर सकते हैं जिसे हम हृदय से नहीं चाहते। परन्तु हमें अपने लक्ष्य को कभी आंखों से ओझल नहीं करना चाहिये। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारी जनता राजनैतिक और आर्थिक मामलों की ओर से उदासीन है। कोई भी विधान, चाहे वह कैसा ही मजबूत और बढ़िया क्यों न हो, इस देश में तब तक नहीं चल सकता, जब तक उसका उद्देश्य साधारण जनता को ऊँचा उठाने का न हो। जनता चल पड़ी है, और वह इस बात का ध्यान रक्खेगी कि उसकी आंखों में अब कोई धूल न झोंकने पावे।

---

# आगे बढ़ना

## [२]

## प्रश्न और उत्तर (१९४५)

[ ६ अगस्त सन् १९४२ को बम्बई में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों और अन्य कांग्रेसी नेताओं के साथ आचार्य नरेन्द्रदेव भी गिरफ्तार किये गए थे। लगभग २ वर्ष और दस मास तक अहमद नगर के किले में नजरबन्द रहने के पश्चात् वे पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ यू० पी० की अलमोड़ा जेल मे भेज दिए गए। उन्हे १८ जून सन् १९४५ को रिहा किया गया। 'लीडर' पत्र के प्रतिनिधि के द्वारा अगस्त क्रान्ति के महत्व और देश के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्नों के इन्होंने नीचे दिये हुए लिखित उत्तर दिये। ये २१ जून, १९४५ को प्रकाशित हुए थे।—सम्पादक ]

प्रश्नः—अगस्त १९४२ के आन्दोलन के बारे में आपकी क्या राय है ? क्या आप समझते हैं कि वह असफल रहा ?

उत्तरः—आन्दोलन इस अर्थ मे तो असफल रहा कि उसको अपने लक्ष्य की प्राप्ति न हो सकी। परन्तु स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के लिए प्रसन्नता से किया गया कोई भी बलिदान निष्फल नहीं

होता। हमारे जनसमुदाय ने पिछले तीन सालों में अभिनव उत्साह का परिचय दिया है और संसार को दिखा दिया है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उनमें कितनी लगन और दृढ़ संकल्प है। मेरी निश्चित धारणा है कि इस आन्दोलन के फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय शक्तियों को भारी बल मिला है। मैं उन लोगों में से नहीं हूं जो इस महान् आन्दोलन के महत्व को कम करने के लिए कानूनी बारीकियों और तर्क जालों का सहारा लेते हैं। इसने निस्सन्देह भारत के स्वाधीन होने के दृढ़ व्रत का पक्का परिचय दे दिया है। मैं लगे हाथ उस सूझ, त्याग और संगठन करने की क्षमता की सराहना करना अपना कर्तव्य समझता हूं, जिनका प्रदर्शन भारतीय विद्यार्थियों ने किया है। चूँकि वह देश के भावी नेता बनने जा रहे हैं, अतः यह बड़ा ही शुभ लक्षण है और इससे मुझे आशा होती है कि भारत के सामने एक उज्ज्वल और शानदार भविष्य है।

प्रश्नः—भारत की उस आर्थिक संयोजना के विषय में आपका क्या विचार है जिसकी आजकल इतनी चर्चा हो रही है?

उत्तरः—मैं भारत के औद्योगीकरण के पक्ष में हूं; परन्तु मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और अन्य उद्योग राज्य की देख भाल और नियंत्रण में चलाए जाने चाहिए। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। सामन्तशाही अर्थ व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए, और भूमि-व्यवस्था में उग्र परिवर्तन किए जाने चाहिए। मेरा तात्पर्य यह है कि खेतिहर और राज्य के बीच में जितने बीच के आदमी हैं, उनका अस्तित्व समाप्त किया जाना चाहिए। भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जानी चाहिए और कृषि-कर्म को सहकारी आधार पर संगठित किया जाना चाहिए। ऋणों को समाप्त किया जाना चाहिए और राज्य को कृषकों के लिए सस्ते ऋण की सुविधा जुटानी

चाहिए। यदि हम जनता के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं और उसके आर्थिक धरातल को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो हमें निकट भविष्य में कम से कम इतना कर लेने का ध्येय अपने सामने रखना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक योजनात्मक अर्थ व्यवस्था जनसमुदाय के लिए हितकारी ही हो। प्रश्न यह है कि उस अर्थव्यवस्था की योजना किसके द्वारा और किसके लाभ के लिए की जा रही है। हम कोई भी योजना बनाएं घरेलू उद्योग धन्धों के लिए उसमें पर्याप्त स्थान अवश्य होगा। जो भी सरकार राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का दावा करे, उसे यह कार्य अपने ऊपर लेना चाहिये। यह एक सरल सी कसौटी है। जो सरकार इस कसौटी पर खरी न उतरे, उसे राष्ट्रीय सरकार होने का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है।

---

# आगे बढ़ना

## [ ३ ]

## भारत और युद्धोत्तर जगत्*

युद्ध जीता जा चुका है। प्रश्न है कि क्या मित्रराष्ट्रीय सरकारें शान्ति लाने में समर्थ हो सकेंगी। जैसा चतुर पर्यवेक्षकों ने कहा है, यदि स्थायी शान्ति स्थापित करनी है, तो उसके आधारभूत सिद्धान्त युद्ध काल में ही निश्चित होजाने चाहिए थे। यदि हमें दूसरा युद्ध नहीं छिड़ने देना है, तो हमें एक ऐसा आर्थिक ढॉचा बनाना चाहिये जो जनसमुदाय को अधिकाधिक समुन्नत कर सके। वर्तमान ढांचे की यही पर्याप्त निकृष्टता है कि केवल युद्ध-काल में ही सब लोगों को काम मिल सका है। इस ढॉचे में मूलभूत परिवर्तन किए बिना जनतन्त्र की अवस्था सब जगह संकटमय हो जायगी हम युद्ध-पूर्व की आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का फिर से अवलम्बन नहीं कर सकते। समाज की संयोजना जनसाधारण की सुख-समृद्धि के लिए करनी पड़ेगी। हैरोल्ड लास्की के शब्दों में "नाजीवाद के ऊपर सामरिक विजय प्राप्त कर लेने

*अमृत बाजार पत्रिका, वार्षिक पूजा अंक, १९४५।

के उपरान्त भी अपने ऊपर विजय पाने का अधिक महत्वपूर्ण और गहरा सवाल रह जाता है।'

## कथनी और करनी

आइये, हम देखें कि ऐसी विजय प्राप्त हो चुकी है अथवा नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि मित्रराष्ट्रीय सरकारों ने समय-समय पर मानव और मानवता के प्रति संवेदना और ऊँचे भावों से भरे वक्तव्य प्रकाशित किये हैं। अटलांटिक चार्टर और चार स्वाधीनताओं के शानदार शब्द हमारे सामने हैं। सान फ्रांसिस्को कान्फ्रेंस के अधिकार-पत्र में स्त्री पुरुषों के और छोटे बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में फिर से विश्वास प्रकट किया गया है, और हिल मिल कर एकता के साथ रहने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापित हो सके। ये वास्तव में उच्चाशय की बातें हैं, परन्तु हम सब जानते हैं कि व्यवहार में किस प्रकार मित्रराष्ट्रीय सरकारें उनके प्रति झूँठी सिद्ध हुई हैं। जिधर देखो जोर-जबरदस्ती की राजनीति का बोलबाला है और कामचलाऊ तरीकों ने सिद्धांतों का स्थान ले लिया है। जैसे ही यूरोपीय युद्ध का अन्त निकट आता दीखने लगा, चर्चिल साहब कहने लगे कि युद्ध सैद्धांतिक नहीं रहा है। मित्रराष्ट्रों में जो आपसी दरार है वह बढ़ती जा रही है और युद्ध-पूर्व के पारस्परिक संशय फिर अपना सिर उठा रहे हैं। एकतरफा निर्णय बार २ किये जा चुके हैं।

## साम्राज्यवादी नीति बनी हुई है

सम्मिलित राष्ट्रों (United Nations) द्वारा स्वीकृत विश्व सुरक्षा योजना में शत्रु से छीने हुये और संरक्षित (Mandated) प्रदेशों की देख रेख के लिये एक अभिभावक-परिषद (Trusteeship Council) बनाई गई है जो उन प्रदशों को अपने प्रबन्ध में

केवल उस प्रकार का समझौता होने की दशा में ले सकती है, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-सत्र के सदस्य राष्ट्रों द्वारा शासित पराधीन प्रदेशों की देख-रेख का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है और अधिकार-पत्र के अन्तर्गत जिन उद्देश्यों और लक्ष्यों को वे सदस्य-राष्ट्र मानते हैं, उनकी पूर्ति के लिये उनके ऊपर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता। फिर इंगलैंड, फ्रांस और हालैंड अपने साम्राज्यों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं। चर्चिल के ये शब्द कि "हमारा इरादा डटे रहने का है," अभी तक हमारे कानों में गूंज रहे हैं। मजदूर सरकार ने हांगकांग चीन को वापिस नहीं किया है। श्री० वेविन की वैदेशिक नीति चर्चिल की नीति का ही उत्तरार्द्ध है। ब्रिटिश लोग अपने वैभव और शक्ति के लिये अपने साम्राज्य को आवश्यक समझते हैं। पुरानी विश्व-व्यवस्था से चिपटे रहने की यह हठभरी इच्छा संसार में शांति और आर्थिक सुरक्षा स्थापित न होने देगी।

यह भी स्पष्ट है कि कोई भी संस्था तब तक शांति रखने में समर्थ न हो सकेगी, जब तक कि उसके प्रमुख सदस्य वैसा न करना चाहें। आगामी जगत् का स्वरूप विश्व-अधिकार-पत्रों में लिखी हुई ऊँची बातों के द्वारा नहीं, बल्कि नेताओं और नीतियों के द्वारा निर्धारित होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि शांति खोई जा चुकी है और यह रक्त-स्नान एक बार फिर व्यर्थ सिद्ध हुआ है। ऐसी अवस्था में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के प्रत्येक सच्चे प्रेमी का यह कर्तव्य है कि वह वर्तमान स्थिति से जनता को ठीक २ अवगत करे और प्रतिक्रिया की शक्तियों से लोहा लेने के लिए उसे संगठित करे, जिससे खोई हुई शांति फिर से लाई जा सके। आगामी कुछ वर्ष निर्णयात्मक होंगे और संसार की सभी प्रगतिशील शक्तियों का यह

कर्तव्य है कि वे अपने समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक हो जांय। जनता आशा लगाये बैठी है और यदि उसे यह विश्वास दिलाया जाय कि उसके बलिदान व्यर्थ नहीं जायेंगे, और मरे हुओं को और भी मारने के काम में नहीं लाये जांयगे, तो वह भारी से भारी त्याग करने को तैयार है।

यह निस्सन्देह है कि यदि हम आज जो कुछ हो रहा है उसे होने दें, तो जो बुराइया पिछले युद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई थीं, वे फिर लौट आयेंगी। ये मसले इतने गहरे हैं और इनका मानव-सुख के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम केवल अपने लिए खतरा उठा कर ही इनकी उपेक्षा कर सकते हैं।

यदि उपर्युक्त विचार-दृष्टि सही है तो एशिया को सुख का समय नहीं मिलेगा। हमें जानना चाहिये कि प्रत्येक ओर से सहायता और सहानुभूति का स्वागत करते हुए भी हमें मुख्यतः अपने ऊपर ही निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यवादी शक्तियों की नितान्त स्वार्थपरता और हठशीलता के कारण पूर्व के पराधीन देशों का स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संगठित होना अनिवार्य हो जायगा।

## अमेरिका और रूस

युद्ध काल में दिखाई गई अमेरिका की सद्भावना और सहायता के ऊपर अत्यधिक भरोसा करने की मनोवृत्ति निकम्मी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाले दिनों में अमरीका ब्रिटिश साम्राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने से अधिकाधिक इन्कार करेगा। यदि यह समाचार सत्य है कि सोवियत रूस के विरुद्ध एक आंग्ल-अमरीकन गुट बनने जा रहा है, तो इससे उपर्युक्त विचार की और भी पुष्टि होती है।

यह भविष्यवाणी करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है

कि रूस किसी स्थिति-विशेष में क्या करेगा ? भूमण्डल के पीडित जन समुदायों के लिए रूस एक महान् प्रेरणा रहा है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यूरोपीय स्थिति के कठोर सत्यों के कारण उसने अपना बहुत सा पिछला आदर्शवाद छोड दिया है। वह अपने आपको विदेशी हमले के भय से पूर्णतया मुक्त कर लेना चाहता है। उसकी नीति केवल इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर निर्धारित होती प्रतीत होती है। स्पष्टतः उसे अपने वर्तमान साथी राष्ट्रों में से कुछ का विश्वास नहीं है। वह यह नहीं भूला है कि रूसी क्रांति के समय से उसके साथ क्या २ होता रहा है। पूँजीवादी शक्तियों का घेरा, हस्तक्षेप, आर्थिक नाकाबन्दी और उसके साथ मैत्री-सम्बन्ध जोड़ने की उनकी लगातर मनाही—इन सबको वह भूल नहीं गया है। अतः वह इस प्रकार की घटनाओं के पुनर्घटन को रोकने के लिए सब सम्भव कदम उठा रहा है। वह अपने तनिक पहिले के शत्रु जर्मनी से भी अधिक अपने नवीन मित्रों की ओर से सशंकित है।

सोवियत रूस को मध्यपूर्व, ईरान और चीन में दिलचस्पी है। ब्रिटिश सरकार अपने नेतृत्व में अरब फैडरेशन बना कर मध्यपूर्व में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न कर रही है, और रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध ईरान सरकार को नैतिक सहायता देगी। चीन में भी आंग्ल-अमरीकन स्वार्थ एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार की स्थापना चाहते हैं। केवल चीन ही एक ऐसा एशियाई देश है जिसका सुरक्षा-परिषद में स्थायी स्थान है, और उसका भविष्य एशियाई लोगों की सहायता और सद्भावना से बनेगा।

## रूस-चीन सन्धि

इस सम्बन्ध में यह सन्तोषजनक बात है कि रूस ने चीन के साथ सौजन्य-पूर्ण सन्धि करके और उसे यह आश्वासन देकर कि

उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का उसका कोई इरादा नहीं है, अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। भारत का भविष्य चीन के भविष्य के साथ बँधा हुआ है और इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य होगा कि हम अपने इस सच्चे और महान मित्र के सब अवस्थाओं में साथी रहें। अब यह कुमिन्तांग के नेताओं के ऊपर है कि वे अपनी सरकार को प्रजातन्त्रीय बनायें और जनता को सुख सुविधायें देने के लिए उग्र उपाय काम में लें। हमें आशा करनी चाहिए कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले प्रत्येक एशियाई देश को चीन की सहानुभूति और सहायता उपलब्ध हो सकेगी परन्तु हम जानते हैं कि यह केवल उसी हद तक सम्भव हो सकेगा जिस हद तक राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों के प्रति उसके कर्त्तव्य उसे ऐसा करने देंगे।

## भारत का भाग

केवल भारत इस प्रकार के किसी भाव से बँधा हुआ नहीं होगा परन्तु उसकी पराधीनता उसे आज दूसरों की कोई ठोस सहायता न करने देगी। इतना अवश्य है कि भारत एशिया की स्वाधीनता का प्रतीक होगया है। हमें यह देखते रहना है कि यह प्रतीक टूट न जाय। युद्ध-काल में हमने जो पक्ष लिया था उसके कारण भारत वर्तमान युग का प्रश्न-चिन्ह बन गया है और एशिया के सभी देश उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब भारत स्वाधीन होगा, क्योंकि वे मन ही मन अनुभव करते हैं कि भारत उनकी मुक्ति की कुंजी है। उन्हें इस तथ्य का पता है कि युद्धकाल में हमारा पक्ष सम्पूर्ण एशियाई और अफ्रीकी जनों की स्वाधीनता की मांग रखने का था। हमें आशा करनी चाहिए कि भारत अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करता हुआ भी अपने कम भाग्य-

शाली पड़ौसियों को नहीं भूलेगा और कुछ नहीं तो अपने हितों के विचार से ही अच्छे पड़ौसियों की सी नीति अपनाकर उनके साथ गैर सरकारी अनाक्रमण समझौते और पारस्परिक मैत्री के समझौते कर लेगा। इस बारे में, भारत को यह घोषणा करके अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए कि उसका अपने पड़ौसियों से आर्थिक अथवा राजनैतिक स्वार्थ-सिद्धि करने कराने का कोई इरादा नहीं है। उसे बर्मा और लंका में अपने नागरिकों के लिए कोई विशेष अधिकार अथवा रियायत नहीं चाहनी चाहियें। उसे भारत से बाहर रहने वाले भारतीयों को सलाह देनी चाहिए कि वे उन देशों की साधारण जनता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लें। भारत अलग रहने की नीति पर नहीं चल सकता। गत काल में अलग और आत्म-सीमित रहने के कारण हमें बड़ी हानि उठानी पड़ी है। हमें उस समय की पुरातन परम्पराओं को पुनर्जीवन करना चाहिए, जब चारों ओर के जगत् के साथ भारत का सम्पर्क था और जब भारत मध्य एशिया चीन, और दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों के बीच वस्तुओं और विचारों का आदान-प्रदान चलता था।

## पूर्व में साम्राज्य

यद्यपि इङ्गलैंण्ड, फ्रांस और हालेंड पूर्व में अपने पुराने साम्राज्यों को बनाए रखना चाहते है, परन्तु उनके लिए ऐसा करना अधिकाधिक कठिन होता जायगा। युद्ध ने पूर्वीय जातियों की राजनीतिक चेतना को अधिक जागृत कर दिया है। उन्होंने अपनी हीनता की भावना पर विजय पाली है। श्वेतों की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लग चुका है, और अब उनकी साख जमना कठिन है। बर्मा मलाया और हिन्दचीन लौटकर अपनी पुरानी दासता की स्थिति पर आजाना कभी स्वीकार नहीं करेंगे। यदि ऐसा कोई प्रयत्न किया गया तो उसका डटकर सामना किया जायगा। स्वतन्त्रता और

जनतन्त्र के लिए संघर्ष करने में भारत अकेला नहीं होगा। वर्तमान समय में उसे एशिया में एक बड़ा कार्य-भाग सम्पादित करना है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम अपनी जिम्मेदारी समझेंगे और समय समय पर आने वाले सुन्दर अवसरों को हाथ से न जाने देंगे। अगस्त-प्रस्ताव हमारे लिए दिशा-सूचक नक्षत्र के समान है। वह एक पूर्ण प्रस्ताव है क्योंकि वह न केवल हमारे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के संकल्प को दुहराता है वरन स्वतन्त्रता का सामाजिक अर्थ भी बतलाता है। वह खेतों और कारखानों में काम करने वालों के हाथ में सम्पूर्ण राजनैतिक सत्ता सौंपना चाहता है। वह भारत की अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य मानने में तत्परता को भी व्यक्त करता है। हमें केवल यह देखना है कि वह प्रस्ताव खटे में न पटका जाकर कार्यरूप में परिणत किया जाय।

हमें आशा करनी चाहिए कि हममें ऐसा विवेक और साहस, ऐसी बुद्धिमत्ता और नीतिज्ञता होगी कि हम अपनी नीतियां इस प्रकार निर्धारित कर सकेंगे जिससे सम्पूर्ण एशिया स्वाधीनता प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा और पूर्व में पूर्ण प्रजातन्त्र की सच्ची नींव पड़ सकेगी। यह वह ठोस उद्देश्य है जिसके लिए हमें लड़ना है, और यदि हमारे भीतर लगन है तो हम अवश्य सफल होंगे।

---

# आगे बढ़ना

## [ ४ ]

## विद्यार्थियों से (१९४६)

[सन् १९४२ की क्रान्ति के पश्चात् इस देश में विद्यार्थी-आन्दोलन का पुनर्जन्म और पुनर्गठन हुआ है वह एक बड़ी ही आशाप्रद चीज है। आचार्य नरेन्द्रदेव फरवरी १९४६ के प्रथम सप्ताह में देहरादून में हुए संयुक्त प्रान्तीय विद्यार्थी कांग्रेस के सम्मेलन के सभापति निर्वाचित किए गए थे। अस्वस्थता के कारण वे वहां जा तो न सके, परन्तु उन्होंने वहां एकत्रित सहस्रों विद्यार्थियों को निम्न सन्देश भेजा, जिसमें उन्होंने विद्यार्थियों और युवकों के आन्दोलन किस प्रकार चलाए जाने चाहिए, इस विषय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—सम्पादक]

एक शक्तिशाली युवक-आन्दोलन, निश्चय ही राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं की डाँवा डोंल स्थिति का परिचायक है। उससे पता लगता है कि भविष्य के तकाजे भूतकाल की परम्पराओं से मेल नहीं खाते और एक नवीन संतुलन की नितान्त आवश्यकता है। प्रत्येक देश में युवक-आन्दोलन का स्वरूप वहाँ की सामाजिक अवस्थाये निर्धारित करती हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् यूरोप

का युवक-आन्दोलन अनुशासन की कठोरता और अतिशय उग्र देशवादिता के विरोध मे था। वह उच्च आदर्शवाद लिए हुए था, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मानव-बन्धुत्व के पक्ष में था। बाद में. जर्मन युवकों को बहकाकर फासिज्म की ओर घसीट लिया गया।

परन्तु पराधीन देशों मे विद्यार्थी आन्दोलन पर सदैव राजनीति का प्रभुत्व रहेगा और जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिशाली बना रहेगा, तब तक विद्यार्थी-आन्दोलन का भी बल और प्रभाव बना रहेगा।

भारतीय जीवन का सर्वप्रमुख तथ्य हमारी पराधीनता है। अतः हमारा पहिला कार्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। परन्तु वर्तमान विश्व में स्वतन्त्रता तब तक न तो प्राप्त की जा सकती है और न स्थायी रखी जा सकती है जब तक स्वातन्त्र आन्दोलन सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा प्रेरित न हो और जन समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं और हितों की अभिव्यक्ति न करे।

आपको यह तय करना है कि आपका आन्दोलन केवल एक बीमारी का लक्षण होगा अथवा एक नवीन युग और नवीन समाज का सूत्रधार होगा। अब, परिवर्तन के लिए समय आ गया है। आधारभूत संस्थायें और विचार छिन्न भिन्न हो रहे हैं, और सारा झुकाव एक नवीन समन्वय करने की ओर है।

यदि आपको अपनी चरमोन्नत अवस्था का साक्षात्कार करना है, तो आपको मानसिक स्वतन्त्रता, मानव एकता, और पूर्ण प्रजातन्त्र के पक्ष मे होना चाहिये, और स्वतन्त्रता, समानता, सामाजिक न्याय और शांति पर आधारित एक नवीन विश्व-व्यवस्था लाने के लिये कार्य करना चाहिये। आपको प्रजातन्त्र की मौखिक प्रशंसा ही न करनी चाहिये, बल्कि जनतन्त्रीय और सहकारी आदते डालनी

चाहिये। नवीन युग का सृजन कागजी संविधानों द्वारा अपने आप नहीं हो जायगा, क्योंकि प्रजातन्त्र आदतों और परम्पराओं की चीज है।

सबसे अधिक आपको जन साधारण की सेवा करनी चाहिये। हमारे लाखों भाई, जो राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं, भूख और बेकारी के शिकार रहते हैं। वे अज्ञान में डूबे हुए, पीडित और शोषित हैं। वे सहायता के लिए आपकी ओर देखते हैं, और भावी राष्ट्र-नेता होने के नाते यह आपका कर्तव्य है कि आप उनकी आवश्यकताओं का अध्ययन करें और यथाशक्ति उनकी सेवा करें।

हमारा संघर्ष एक नवीन रूप ले रहा है जिसमें ठोस निस्पृह कार्य की आवश्यकता होगी। भविष्य में इस देश के प्रत्येक आन्दोलन का मूल्यांकन करने में यह नहीं देखा जायगा कि उसके पीछे कितना शोरगुल है, बल्कि यह देखा जायगा कि उसने कितना ठोस कार्य किया है।

राष्ट्रीय घटनाओं के पर्व मनाना और यदाकदा प्रदर्शन आयोजित करना आवश्यक है, परन्तु हमें अनुभव करना चाहिये कि अब इस प्रकार की हलचलों के स्तर से ऊपर उठने का समय आ गया है।

मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप राष्ट्र के लिए ठोस वास्तविक कार्य करने में जुट जांय। कर्म आपका महामन्त्र होना चाहिये। आपको याद रखना चाहिये कि आपका सरोकार केवल राजनीति से नहीं है, क्योंकि आपको सांस्कृतिक लक्ष्यों की भी सिद्धि करनी है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वर्तमान युग की प्रवृत्ति, राजनीति में अगुआ बनने के लिये, मानसिक स्वतंत्रता, वैधानिक स्वाधीनता,

और नैतिक सिद्धांतों का भी बलिदान करने की है। नैतिक धरातल बहुत नीचे गिर गया है, और यथार्थवाद के नाम मे प्रत्येक कार्य का औचित्य प्रतिपादन किया जाता है। यह भावना प्रत्येक संस्था मे घर करती जा रही है। जब वह आती है तो आंदोलन का सर्जनात्मक आकर्षण चला जाता है क्योंकि राजनीतिक रस्साकशी में सलग्नता उस लक्ष्य को ही विकृत कर देती है जिसकी सिद्धि आंदोलन का उद्देश्य होती है।

अतः मै आपसे अनुरोध करूंगा कि आप इस प्रवृत्ति मे लड़ें, और आचरण का एक ऐसा मान-दण्ड रखें जो आपके उच्च ध्येय और आदर्शो के अनुरूप हो।

मैं आपके सम्मेलन की सब प्रकार की सफलता की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि वह आगामी वर्ष भर का कार्यक्रम निर्धारित कर लेगा।

मेरी सम्मति है कि आप साम्प्रदायिक शांति और भ्रातृभाव पैदा करने के कार्य में जुट जांय। इस कार्य का बड़ा राजनीतिक महत्व है और इस ओर आपका सम्पूर्ण ध्यान जाना उचित है।

# आगे बढ़ना

# [ ५ ]

## कैबिनेट मिशन और भारत (१९४६)*

श्री० एटली के वक्तव्य का भारत में स्वागत किया गया है। वह जहां तक जाता है, वहाँ तक निरपवाद हैं। परन्तु चूँकि उससे ब्रिटिश योजना के दर्शन नहीं होते, अतः हम उसके पक्ष में केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह मेल मिलाप की भावना और सुन्दर शब्द-योजना से पूर्ण है। हमारे कुछ नेताओं ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे मिशन की सफलता के लिए आशान्वित हैं परन्तु अन्य व्यक्ति जिनकी सम्मतियों का हमे आदर करना चाहिए, ऐसे भी हैं जो निराशावादी हैं और जिन्होंने चेतावनीपूर्ण बाते कही हैं।

आशावाद और निराशावाद कुछ तो व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करते हैं और कुछ उसके स्थिति-ज्ञान पर। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रिटिश सरकार अब शक्ति के बल से भारत

*७ अप्रैल सन् १९४६ के 'नेशनल हैरल्ड' (लखनऊ) में दिया गया।

पर शासन नहीं कर सकती । विश्व युद्ध के परिणाम स्वरूप शक्तियों का पलड़ा पलट गया है । भारत और ब्रिटेन का झगड़ा अब एक अन्तर्राष्ट्रीय मामला माना जाता है । भारतीय समस्या अब साम्राज्य की घरेलू समस्या नहीं रही है बल्कि विश्व की समस्या होगई है । राष्ट्रीय आत्मसम्मान की एक नवीन भावना के विकास के परिणामस्वरूप भारतीय स्थल और जल सेना मे उठती हुई ब्रिटिश-विरोधी भावना की लहर-जिसके कारण वह अविश्व-सनीय होगई है और अन्य महकमों मे—यहां तक पुलिस में भी जो साधारणतः राष्ट्रीय भावना से कोसों दूर रहती है—बढ़ती हुई अनुशासनहीनता; इनके कारण ब्रिटिश सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह भारतीय प्रश्न का एक नए आधार पर निपटारा करे । सम्पूर्ण एशिया मे आग सुलग रही है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद अन्तिम सांसें ले रहा है । यदि एक समझदार ब्रिटेन वाला ठण्डे दिमाग से वर्तमान स्थिति पर विचार करे तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उसे साम्राज्य के गट्टर को उतार फेंकना चाहिये । परन्तु मनुष्य विचार से अधिक भाव के अनुसार चलते हैं, और स्वार्थ उनकी बुद्धि को मलिन कर देता है । ब्रिटिश लोग बहुत ही सतर्कता से और धीरे धीरे चलने वाले हैं । वे समझौते की कला में पारगत हैं, और कुछ हद तक चलकर वे तब तक आगे नहीं बढ़ते, जब तक वे ऐसा करने के लिए बाध्य न हो जायें । गतकाल में उन्हें इतनी अधिक बार सफलता मिली है, कि वे यह समझने लगे हैं कि वे फिर लीपापोती करके संकट को टाल देंगे । उनके लिए दकियानूसी दिशा से भिन्न दिशा अपनाना कठिन है, और वे थोथी रीतियों और परम्पराओं से चिपटे हुये हैं भारत के मामले मे ब्रिटेन ने लगातार वायदे तोड़े हैं, और इसलिए भारतीय मष्तिष्क में ब्रिटिश सरकार के इरादों

के प्रति तीव्र अविश्वास उत्पन्न हो गया है। हम यह नहीं भूल सकते कि भारत में उसकी नीति कुछ टुकड़े फेंकने और दमन करने की रही है। आज भी ये अफवाहें चल रही हैं कि सरकार उस भारतीय संघर्ष को कुचलने की तैयारियां करने में लगी हुई है जिसके छिड़ने का, कैबिनेट मिशन के खाली हाथ लौटने पर, उसे डर है। मैं इन अफवाहों को कोई महत्व नहीं देता।

मैंने इस तथ्य का जिक्र केवल यह दिखाने के लिए किया है कि लोगों को ब्रिटिश इरादों में विश्वास नहीं है। वे यह कहते हैं कि यदि ब्रिटिश सरकार सचमुच ही भारतीय मांग की पूर्ति करने के लिये उत्सुक होती तो वह अपने प्रस्तावों के स्वागत के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के उद्देश्य से आम क्षमादान की घोषणा कर देती। यह भी बताया जाता है कि जैसे ही यूरोपीय युद्ध समाप्त हुआ वैसे ही इङ्गलेंड में राष्ट्रीय सरकार ने मोसले के गिरोह को तुरन्त छोड़ दिया। उसने सुदूरपूर्व के युद्ध के अन्त की भी प्रतीक्षा नहीं की। परन्तु भारत में जनता के प्रिय नेता और अनन्य देशभक्त अभी तक जेल में हैं यद्यपि युद्ध को पूर्ण रूप से समाप्त हुये नौ महीने बीत चुके हैं और युद्ध के अन्त की द्योतक जो कृत्रिम तिथि निश्चित की गई थी वह भी प्रथम अप्रैल को बीत चुकी है। यह हालत तब है जब इङ्गलैण्ड में इस समय मजदूर सरकार का शासन है। कम से कम भारत-सरकार अपने ही नजरबन्दों को तो छोड़ सकती थी। वे संख्या में केवल दो हैं—श्री जयप्रकाशनारायण और श्री राममनोहर लोहिया जो भारत माता के शूरवीर सपूत हैं और जिनको सबका सम्मान और प्रेम प्राप्त है। परन्तु सरकार काष्ठवत् सहृदयताशून्य और प्रतिक्रियावादी है। भारतीय और ब्रिटिश जनता के बीच मेलामिलाप होने में एक बड़ी बाधा ब्रिटिश फौलादी चौखटा है।

इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुये कोई भी व्यक्ति विशेष आशावादी नहीं हो सकेगा। परन्तु इस सद्भावना से आपस में समझौते की बातचीत करने का तिरस्कार नहीं कर सकते। शान्ति-पूर्ण वातावरण निस्सन्देह सहायक होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों को संयत रूप से अपने स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं करने चाहिये। जहाँ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की देश भक्ति संयमित रहने और टिप्पणी न करने में है, वहां एक भारतीय राजनीतिज्ञ का देश प्रेम इसमें है कि वह संयत भाषा में अपने विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन करे।

मुझे आशा है कि हम सब आधारभूत मसलों पर अन्त तक अड़े रहेंगे। यह पहले ही घोषित किया जा चुका है कि कोई हल जो भारत को बालकन देशों की तरह बनाना चाहेगा, हमें मान्य नहीं होगा और यह भी कहा जा चुका है कि पौंड-पावने का प्रश्न भारत के लिए सन्तोषप्रद रूप से तय होना चाहिये। यह अधिकृत रूप से कहा जा चुका है कि यदि दो सविधान सभायें बनाई जांयगी, तो कांग्रेस समझौते की बातचीत न करेगी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने यह जता कर अच्छा किया है कि विधान-निर्मात्री सभा में रियासती जनता का भी प्रतिनिधित्व होना चाहिये। श्री० एटली के वक्तव्य में रियासती जनता का जिक्र न होकर केवल राज-वर्ग का जिक्र है। यह बात अर्थपूर्ण है, और प्रेस कान्फ्रेंस में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भारतमन्त्री ने वस्तुतः यह घोषित किया था कि रियासती जनता की कोई वैधानिक स्थिति नहीं है अतः उसके ऊपर कोई ध्यान नही दिया जा सकता। यह आश्चर्यजनक है एक मजदूरदलीय मंत्री ऐसी दिखावटी युक्ति से जनता के अधि-कारों की उपेक्षा करता है। भला मजदूर दल कब से उस राज-वर्ग

पर लट्टू हो गया है जिसका स्वरूप सामन्तशाही है और जो इस देश में एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है।

भारत-मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा है कि स्वतन्त्र भारत को जमापूँजी के साथ भुगतान को भी स्वीकार करना पड़ेगा। हम जानते हैं कि राजवर्ग ऐसे ही भुगतानों में से एक है। उसे देश की प्रगतिशील शक्तियों से लोहा लेने के लिए ऊँचा चढ़ाया गया है। उसे बनाये रखने के लिए पावन सन्धि-अधिकारों की दुहाई दी गई है। दूसरी ऐसी ही हत्या साम्प्रदायिक वैमनस्य है जो ब्रिटिश शासन की देन है। हम यथासम्भव शीघ्र इन आफतों का अन्त करना चाहते हैं। हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक मेल स्थापित करेंगे और एक राष्ट्रीय जाति बन जांयगे। राज-वर्ग समाप्त कर दिया जायगा, क्योंकि वह वर्तमान युग से मेल नहीं खाता। जितने भी प्रजातन्त्र-विरोधी तत्व हैं उनको दबा दिया जायगा जिससे प्रजातन्त्र चल सके और पनप सके। अतः यह आवश्यक है कि सन्धि-अधिकारों को अधिक महत्व न दिया जाय। हम उनकी पावनता की असलियत जानते हैं। भारतीय जनतन्त्रीय राज्य को भारतीय रियासतों में सर्वोपरि सत्ता का स्थान ले लेना चाहिए। वह इस बात का प्रबन्ध करेगा कि रियासतों में प्रारम्भ में प्रजातन्त्रीय विधान तो हो ही जाय।

इस लेख का विशेष उद्देश्य जनता का ध्यान इस प्रश्न के एक ऐसे पहलू के प्रति आकर्षित करने का है जिस पर उचित बल नहीं दिया गया है। मेरा तात्पर्य उस तथाकथित मैत्री सन्धि से है जिसका प्रधानमंत्री के वक्तव्य में जिक्र किया गया है।

यह ब्रिटिश लोगों की प्रिय चाल है कि वे नाम-मात्र की स्वाधीनता देकर समझौते की धाराओं में वास्तविक नियन्त्रण और सत्ता अपने हाथों में रख लेते हैं। जैसे बिच्छू का डङ्क पूँछ में, और

घारासभाई कानून का डङ्क उसके नियमों में होता है, उसी प्रकार स्वाधीनता के ब्रिटिश प्रस्ताव का डङ्क उस तथाकथित मैत्री-सन्धि में होता है जो अनिवार्य रूप से समझौते के साथ लगी रहती है। मैं ऐसा कह कर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर छींटे नहीं फेंक रहा हूँ। मैं तो केवल एक विख्यात, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर लिखने वाले लेखक का मत उद्धृत कर रहा हूँ जिस पर ब्रिटिश लोगों के प्रति कोई विरोधी भाव रखने का दोष नहीं लगाया जा सकता। मैं अपने पाठकों से श्री० जी० एम० गैथौर्न हार्डी की पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का संक्षिप्त इतिहास, १६२० से १६३८ तक" में निम्न अवतरण पर दृष्टिपात करने के लिए कहूंगा। "जब ब्रिटिश कूटनीति, जो स्वभाव से समझौता-प्रेमी है, स्वतन्त्रता की छाया-मात्र देकर वास्तविक नियन्त्रण अपने हाथ में रखना चाहती है तब वह सन्धि के उपाय का अवलम्बन करती है। फरवरी सन् १६२२ में ब्रिटेन ने मिश्र से कहा था कि वह अब से एक स्वतंत्र सर्वसत्तात्मक राज्य होगा, परन्तु उपर्युक्त मुद्दे अपने हाथ में रख कर उसने उस की स्वतंत्रता को सीमित भी कर दिया था"।

ब्रिटिश हितों की सुरक्षा और साम्राज्य की यातायात-पंक्ति की रक्षा के लिए मिश्र की भूमि पर ब्रिटिश सेनाएं रखी गईं, परन्तु साथ ही सन्धि में यह कहा गया कि ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति से मिश्र के सर्वसत्तात्मक अधिकारों में कोई दखल नहीं पड़ेगा। इराक और आयरलैंड में भी यही सन्धि की तरकीब बरती गई। आयरलैंड में तो स्वाधीनता की घोषणा भी नहीं की गई क्योंकि उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण ब्रिटिश दृष्टि में उसका स्वतन्त्र होना न जँचा। ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए आयरलैंड महत्वपूर्ण था, और इसलिए छाया-मात्र स्वतन्त्रता भी नहीं दी सकती थी। मूलदेश होने के कारण वह उपनिवेश नहीं हो सकता था, अतः उसे जल-सेना

रखने का औपनिवेशिक अधिकार भी नहीं दिया गया। ब्रिटेन की सुरक्षा के हित सर्वोपरि थे और मैत्री-सन्धि (१९२२) की आधारभूत जो समझौते की धारायें थीं, उनमें यही उद्देश्य काम कर रहा था। सामरिक साधनों के बढ़ाने और सैनिकों के शिक्षण पर भी पाबंदियां लगा दी गईं और कुछ युक्तियां जो उस समय काम में लाई गईं हास्यास्पद थीं। यह कहा गया कि असीमित सेना-सामग्री और सेनायें रखने देना स्वयं आयरलैंड के हित में नहीं है क्योंकि यदि उत्तरी और दक्षिणी आयरलैंड दोनों को सेना-सामग्री रखने के ऐसा अधिकार दे दिया गया तो इससे उन दोनों में लडाई होगी। इराक के मामलों में, उसको राष्ट्र-लीग का सदस्य बनने देने से पहिले उसके सर्वसत्तात्मक अधिकारों पर पाबन्दियां लगा दी गईं और कहा यह जाता रहा कि उसकी पूर्णसत्तात्मकता का आदर किया जायगा। इस प्रकार सलाह, सहायता अथवा ब्रिटिश हितों की सुरक्षा के बहाने से सन्धि में सामरिक और अन्य शर्तें लगा दी गईं और घोषणा यह की गई कि स्वतन्त्रता प्रदान की जा चुकी है। मैं यह नहीं समझता कि इन सन्धियों को किस प्रकार मैत्री-सन्धि कहा जा सकता है और किस प्रकार इन्हें स्वतन्त्रता पर आधारित बताया जा सकता है। ये सन्धियां दबाव से प्राप्त की गईं थीं, और चूँकि वे छोटे देश थे, अतः जो थोड़ी सी सत्ता उन्हें दी जा रही थी, उसे भी छोड़ना उनके लिये कठिन था।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय सन्धि इन सन्धियों की हूबहू नकल होगी। ये सन्धियाँ भी समय समय पर संशोधित होती रही हैं, और पहिले की कुछेक पाबन्दियाँ हटा दी गईं हैं। मिश्री सन्धि को फिर संशोधित किया जायगा। परन्तु मुझे भय है कि सुरक्षा के कारणों से कुछ सामरिक शर्तें हमारी सन्धि में लगेंगीं

क्योंकि भारत के पास कोई कहने लायक जल-सेना नहीं है, अतः जब तक भारत एक शक्तिशाली जल-सेना रखने की स्थिति में न हो जाय, तब तक के लिए वे ब्रिटिश जल-सेना का भारतीय तट की रक्षा करने का हक रखेंगे। वे निश्चय ही उस रक्षा-कार्य का एक भाग प्रारम्भ से ही भारत को दे देंगे परन्तु चूँकि आगामी अनेक वर्षों तक भारत अपना जहाजी बेडा नहीं बना सकेगा इसलिए ब्रिटिश जल-सेना भारतीय तटों की रक्षा करती रहेगी। इङ्गलैएड साम्राज्य के हितों में, भारत से कम से कम युद्ध-कालों में कुछ जहाजी और सामरिक अड्डों की भी मांग करेगा। बाहरी आक्रमण से भारत की रक्षा के लिए ब्रिटिश सेना को भारत में रखने की बात पर हमारी सहमति प्राप्त करने का भी प्रयास किया जा सकता है। हमें इन सब चालों का डटकर प्रतिरोध करना चाहिये। ब्रिटिश सेना को भारत से जाना ही होगा। भारतीय सेना जैसी कुछ भी है, हमारे लिए ठीक है। उसमें जो कमियाँ हैं, वे अन्त-र्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा पूरी की जा सकती हैं। फिर हमें इस बात की भी कोई आशङ्का नहीं है कि ब्रिटिश लोगों के भारत छोड़ने के पश्चात् कोई बड़ी शक्ति हम पर हमला करेगी। सेना के विषय में कोई सुविधायें देना हमारे लिए विपत्ति-पूर्ण सिद्ध हो सकता है।

इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का उत्तर देना सार्थक होगा कि भारत औपनिवेशिक दर्जा क्यों नहीं चाहता। औपनिवेशिक स्वराज्य के विषय में जो आपत्ति उठाई जाती है वह केवल भावना-त्मक नहीं है। उसके पीछे ठोस कारण हैं। प्रथम तो, भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्यों से सांस्कृतिक और जाति में भिन्न है। दूसरे, जिस दक्षिण-अफ्रीका में इतना रंग-विषयक भेद भाव है और

जो भारतीयों के साथ साम्राज्य के दासों का सा व्यवहार करता है, वह भी राष्ट्रमंडल का सदस्य है। एक और ठोस तर्क यह है कि भारत ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था पर बँधा हुआ नहीं रहना चाहता वह अपने अलग आर्थिक और सामाजिक ढांचों का विकास करना चाहता है। वह ब्रिटिश वैदेशिक नीति का पिछलग्गू बनने के भी विरुद्ध है। यद्यपि साम्राज्य की वैदेशिक नीति निर्धारित करने में उपनिवेशों का भी हाथ रहता है, परन्तु उस नीति को कार्यान्वित करने का साधन ब्रिटिश वैदेशिक कार्यालय है। भारत का दर्जा और उसके हित इस बात की अपेक्षा करते हैं कि वह अपनी स्वतंत्र वैदेशिक नीति विकसित करे। उसे दक्षिण-पूर्वी एशिया की रक्षा में महत्वपूर्ण भाग अदा करना है। उसे शान्ति के लिए कार्य करना पड़ेगा, इसलिए ही नहीं कि उसकी परम्परायें ऐसी रही हैं, बल्कि इसलिए भी कि उसके राष्ट्रीय हितों के लिए शान्तिपूर्ण नीति पर चलना आवश्यक होगा।

अनेक वर्षों तक स्वतन्त्र भारत की सम्पूर्ण कार्य-शक्ति रचनात्मक कार्य मे निमग्न रहेगी, और स्वभावतः युद्ध जैसी बाहरी व्याधि उसकी सामाजिक और आर्थिक उन्नति को स्थगित कर देगी। अतः उसके लिए अपने पड़ोसियों से ही नहीं अपितु सारी बड़ी शक्तियों से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक होगा वह प्रत्येक देश से अनाक्रमण समझौते करेगा, और औरों की लड़ाइयों मे पड़ने से दूर रहेगा। फिर ईरान, बर्मा, मलाया, और अरब देशों के बारे में ब्रिटेन के इरादे स्पष्ट नहीं हैं। उसका उनके प्रति वर्तमान रवैया शुभसूचक नहीं है। पुरानी लूटमार राजनीति अब भी चल रही है। इङ्गलैण्ड ईरान में अपनी तेल-सुविधाओं को नहीं छोड़ना चाहता और फारिस की खाड़ी पर अपना सामरिक

पंजा जमाये रखना चाहता है। यह सम्भव है कि वह उत्तरी ईरान मे रूस के हितों को न्यायोचित मानकर इस आधार पर उससे समझौता कर ले। ये लोग प्रतिद्वन्दी शक्तियों में पारस्परिक समझौतों के द्वारा प्रभाव-क्षेत्रों का वितरण करके शान्ति कायम रखने का प्रयास करेंगे, साम्राज्यवाद को छोड़कर और एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की नींव डालकर नहीं। यह हमको सन् १९०७ वाली पुरानी बात की याद दिलाता है जब इङ्गलैण्ड और जारशाही रूस के बीच के झगड़े की सब प्रमुख बातें इसी प्रकार तय की गई थीं। ब्रिटिश दायरे में रहकर हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पापों के भागी ही न बनेंगे, बल्कि साथ ही इङ्गलैण्ड के युद्धों में भी अपने आपको फँसा लेंगे।

यह दलील दी जा सकती है कि संसार की सुरक्षा की खातिर भारत के तटों को अरक्षित नहीं रहने दिया जा सकता। इसका मै यह उत्तर दूँगा कि कि जापान का पतन होने के पश्चात् यदि भारतीय तटों को कुछ समय के लिए अरक्षित भी छोड़ दिया जाय तो कोई हानि नहीं है। यदि आज की बड़ी सामुद्रिक शक्तियाँ- इङ्गलैण्ड और अमरीका शान्तिपूर्ण उद्देश्यों वाली हैं तो भारतीय तट की सुरक्षा-अरक्षा से कुछ बनता बिगड़ता नही। रूस एक स्थल शक्ति है, जल शक्ति नहीं। इसके अतिरिक्त रूस भारत की सर्वसत्तात्मकता का सम्मान करेगा यदि ये अन्य दो बड़ी शक्तियाँ भी उसका ठीक ठीक सम्मान करें। यह भी बता देना उचित होगा कि तट-रक्षा के लिए काम-चलाऊ बेड़ा तैयार करने में अधिक समय नहीं लगेगा।

अतः हम पारस्परिक रक्षा के लिए ब्रिटेन से गठ-बन्धन नहीं कर सकते। ऐसा करना निश्चय ही रूस को सन्देह-युक्त और

हमारे प्रति अमैत्रीपूर्ण कर देगा, और हमें यह न भूलना चाहिए कि रूस की मैत्री ही नहीं तटस्थता भी आगामी दिनों में हमारे लिए महत्वपूर्ण होगी। हमारा हित बड़ी शक्तियों की राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धाओं से दूर रहने में है। हम एक गुट का दूसरों के विरुद्ध पक्ष नहीं ले सकते। सन्धि में ब्रिटेन के लिए विशेष अनुकूल शर्तें नहीं रखी जा सकतीं।

इङ्गलैंण्ड के कुछ हक्कों का निपटारा करने के लिए तो सन्धि की ही जायगी। उसमें व्यापार-विषयक धारा भी जोड़ी जा सकती है, बशर्तें कि वह दोनों के लिए समान रूप से लाभदायक हो। अनाक्रमण-समझौता भी किया जा सकता है। परन्तु इस अर्थ की कोई मैत्री-सन्धि नहीं हो सकती कि भारत सोवियत रूस के विरुद्ध आंग्ल गुट में सम्मिलित हो रहा है।

---

# [६]

## जन साधारण और कांग्रेस (१६४६) *

सन् १६४१—४३ के जनसंघर्ष के परिणामस्वरूप कांग्रेस की शक्ति और प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गये हैं। वे विशाल जनसमूह के टुकड़े जो पहिले इसके प्रभाव से अछूते थे, अब इसके प्रभाव में आ गये हैं और इसमें निष्ठा रखने लगे हैं।

भारतीय सेना में स्वातन्त्र-भावना घर कर गई है। उसे एक नवीन स्फुरण मिला है। अब भारतीय सेना और नागरिक जनता के बीच की पुरानी दीवार ढह गई है और भारतीय सेना शनैः २ अपना 'किराये के टट्टू' वाला रूप छोड़ती जा रही है, और यह अनुभव करती जा रही हैं कि उसका अस्तित्व विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा के लिए ही नहीं है, बल्कि विदेशी जुए से भारत को मुक्त करने के लिए भी है। यह आश्चर्यजनक भले ही लगे, परन्तु भारतीय सेना, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की होकर भी, आज पथप्रदर्शन और नेतृत्व के लिए विभिन्न साम्प्रदायिक संस्थाओं की

* १० फरवरी सन् ११४६ के समाजवादी साप्ताहिक 'जनता' (नई दिल्ली) से।

ओर न देख कर कांग्रेस की ओर देखती है। यह एक बहुत ही अर्थपूर्ण तथ्य है ओर इससे हमारे सैनिकों की राजनीतिक प्रौढ़ता का पता चलता है। एक सैनिक सच्चे योधा का सम्मान करता है, और जो केवल खांडा खटकाते रहते हैं, उनसे घृणा करता है।

विद्यार्थी आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति में भी राष्ट्रीय संघर्ष का प्रतिबिम्ब मिलता है। इस प्रकार संघर्ष ने, हमें सब ओर अच्छे मुनाफे दिये है। सब तरफ कांग्रेस के लिए अभूतपूर्व उत्साह है ओर 'जयहिन्द' के नाद से सम्पूर्ण देश प्रतिध्वनित हो रहा है। 'भारत छोड़ो' हमारा युद्ध-नारा बन गया है और अगस्त संघर्ष का उदाहरण बार २ हमारे स्वतन्त्र होने के संकल्प के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

परन्तु लड़ाई अभी जीती जानी है। प्रथम दौर में हम असफल रहे। परन्तु समय आने पर हमें फिर धावा करना चाहिये। हम जानते हैं कि ब्रिटिश सरकार युद्ध से मध्यम श्रेणी की शक्ति बन कर निकली है। हम यह भी नहीं जानते हैं कि उसे ससार मे सब स्थानों पर भारी कठिनाइयों का सामना करना है। परन्तु हम इस तथ्य की ओर से आंख बन्द नहीं कर सकते कि साम्राज्यवाद के पास अपने आपको बनाये रखने के अनेक हथकंडे हैं। हमें उसे उसके सिंहासन से च्युत करना है। हम जानते है कि कठिन और बुद्धिपूर्ण कार्य के बिना हम सफल नहीं हो सकते। हमें निश्चित होकर नहीं बैठना है। संघर्ष के बिना आज तक किसी भी राष्ट्र को स्वाधीनता नहीं मिली है। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी मनसूबे हमसे छिपे नहीं हैं। इंडोचीन और इंडोनेशिया में डच और फ्रांसीसी निरंकुशता को बनाये रखने के उसके प्रयास साफ २ सिद्ध करते हैं कि वह अपने अधीन देशों पर अपना प्रभुत्व जमाये रखना चाहता

है। मजदूरदलीय सरकार की वैदेशिक नीति चर्चिल की नीति का चलते रहना मात्र है।

## अगस्त प्रस्ताव

जो लोग अगस्त प्रस्ताव की दृढ़ प्रतिज्ञा लिए हुये हैं, उनके लिए चुनाव लड़ना केवल संघर्ष की तैयारी का एक रूप है। यदि हम धारासभाओं में घुसते हैं, तो वह उनका क्रान्तिकारी उपयोग करने के लिए होता है। हम ऐसी संविधान-परिषद में प्रवेश नहीं करेंगे, जो जनता की इच्छाओं को प्रतिविम्बित और उनका प्रतिनिधित्व न करे, और जिसमें सर्वोच्च सत्ता न हो। हम दूसरों के मन्तव्यानुसार नहीं चलना चाहते, न हम अपना संविधान आप बनाने के पूर्ण अधिकार पर किसी प्रकार का बन्धन चाहते हैं। हम अपना भाग्य निर्माण करने की उन्मुक्त स्वाधीनता चाहते हैं। सबसे अधिक हम चाहते हैं कि जन-साधारण अपने मनोरथ को व्यक्त करे और अपनी स्वाधीनताओं का अधिकार-पत्र स्वयं लिखे।

कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव पर जमे रहने की घोषणा करदी है और उसे क्रियान्वित करने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया है। वह प्रस्ताव राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता का सामंजस्य करता है और एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है, जिसमें सम्पूर्ण सत्ता उत्पादकों के हाथ में होगी।

यदि हम केवल आदर्शवादी शब्द-समूहों से सन्तुष्ट रहना नहीं चाहते, तो आइये, इस प्रस्ताव में निहित तत्वों की समीक्षा करें। ऐसी व्यवस्था, जनसाधारण के सक्रिय सहयोग और नेतृत्व के बिना नहीं बताई जा सकती। यह सोचना आत्म-वञ्चना के समान होगा कि मध्यवर्ग स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपनी मर्जी से सम्पूर्ण सत्ता श्रमिक-जनसमुदाय को सौंप देगा। ऐसा इतिहास में कभी नहीं हुआ है और भारत इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।

जनता को स्वयं सत्ता अपने हाथ में लेनी होगी। अन्य वर्गों के जिन व्यक्तियों ने अपने आपको जनता के साथ मिला दिया है, वे केवल इस कार्य में उसकी सहायता कर सकते हैं: वे सत्ता को उपहार की तरह उसकी भेंट नहीं कर सकते। इस तथ्य को यदि हम मान लें, तो हमें अपनी संस्था का स्वरूप बदलना पड़ेगा। हमें कांग्रेस के द्वार कृषकों और श्रमिकों के लिये खोल देने पड़ेंगे और जो तत्व जनता के हितों के विरोधी हैं, उन्हें हटाना पड़ेगा। जनता के हित सर्वोपरि बनाने होंगे और प्रत्येक हित जो उनके विरुद्ध पड़ेगा, हमें दूर करना होगा। यदि ऐसा किया जाय, तो वर्ग-संस्थायें अनावश्यक हो सकती हैं। परन्तु एक प्रमुखतः मध्यवर्गीय सस्था से ऐसा करने की आशा नहीं की जा सकती। इसलिये कृषकों और श्रमिकों को अपने अलग संघ बनाने के लिये प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। और उनके अपने स्वतन्त्र संगठन पर नियन्त्रण रखने का कोई प्रयास नहीं किया जाना चाहिये।

उन्हें अपने आर्थिक वर्ग हितों की सुरक्षा के लिए संगठित होने दिया जाना चाहिये। उनकी माँगें कांग्रेस के घोषणा-पत्र अथवा नीति और कार्यक्रम में सम्मिलित की जानी चाहिये। इसी प्रकार कांग्रेस जनता की आर्थिक माँगों को ध्वनित कर सकती है और उनके हित का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकती है। कांग्रेस इन संस्थाओं को राजनैतिक शिक्षा देकर उनसे आर्थिक कार्यक्रम ले सकती है। जनता की राजनैतिक और आर्थिक मुक्ति केवल ऐसे आदान-प्रदान से ही हो सकती है।

जनता को सब प्रकार के शोषण और उत्पीड़न से बचाया जाना चाहिये, और समाज-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए संगठित किया जाना चाहिये। इस प्रकार हम देहात में ऐसे स्थल बना सकेंगे जो जनतन्त्र के लिए शक्ति-स्थान होंगे।

हमें यह भी निर्णय करना है कि हम आन्दोलन को सहज स्वभाविक रूप से चलने देना चाहते हैं अथवा उसे एक निर्दिष्ट, उद्देश्यपूर्ण स्वरूप देना चाहते हैं। यह सत्य है कि वह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसे ठीक दिशा में चलाने के लिये दक्ष कार्यकर्त्ता न हों।

यदि यह बात सही है तो कांग्रेस को एक प्रबल और अनुशासन-बद्ध क्रांति-साधन में परिवर्तित किया जाना चाहिये।

उसे एक वास्तविक, सक्रिय और कठोर अनुशासन वाली राजनैतिक शक्ति बनना चाहिये। परन्तु कांग्रेस की परम्पराओं और हमारे अग्रगण्य नेताओं के कथनों से हमें ऐसा प्रतीत होगा कि कांग्रेस एक सहज-स्फुटित आन्दोलन में विश्वास करती है और उसकी दिशा और गति को नियन्त्रित करने के पक्ष में नहीं है। परन्तु यह कहना अधिक सत्य होगा कि वह इस प्रकार के जन-आंदोलन के पक्ष में नहीं है। वह निश्चय ही यह नहीं चाहती कि जनता अपना क्रांतिकारी पथ स्वयं टटोल ले। वह किसी प्रकार असहयोग अथवा नियमित रूप की सविनय अवज्ञा से ही सन्तुष्ट रहेगी। परन्तु यह पूछना उचित ही है कि क्या इस प्रकार के असहयोग और विरोध से काम चल सकेगा।

कांग्रेस को प्रभावशाली बनाने के लिए उसको पुनर्सङ्गठित और पुनर्जीवित किया जाना चाहिये। उसमें राजनीतिक शिथिलता आती जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने लक्ष्य को आंखों से ओझल किये दे रहे हैं, और बीच के पड़ाव को ही अपनी यात्रा का अन्त समझ रहे हैं। हमारे अधिकांश कार्यकर्त्ताओं पर अगुआ बनने का भूत सवार हो गया है, और ये प्रभाव और अधिकार के छोटे २ पदों पर दांत लगाये रहते हैं। पार्लियामेंटीय कार्यक्रम अपना भ्रष्ट

प्रभाव डाल रहा है और छोटे बुर्जुआ वास्तव में छोटापन (ओछापन) दिखा रहे हैं। क्रांतिकारी उत्साह इस समय ठण्डा पड़ गया है और धारासभाओं में स्थान पाने के लिए कार्यकर्त्ताओं की धक्कामुक्की का भद्दा और घृणास्पद दृश्य सब ओर दिखाई देता है।

लेनिन ने रूस के बारे में कहा था कि वहां लोग तो बहुत से है, परन्तु मनुष्य नहीं हैं। यह हमारे विषय में भी ठीक है। हमने अपने कार्यकर्त्ताओं के शिक्षण पर शायद ही कभी ध्यान दिया है। हमने अपने कार्यकर्त्ताओं के विचारों और बुद्धि को गति देने और उन्हें अपने देश की समस्याओं से अवगत कराने के लिए कुछ नहीं करते। कार्यकर्त्ताओं की कार्यपटुता बढ़ाई जानी चहिये और विशिष्ट कार्य करने की उनकी व्यवहारिक योग्यता विकसित की जानी चाहिये। फिर स्थानीय कमेटियों को तो केवल ऊपर की आज्ञाओं को क्रियान्वित करना है। सम्पूर्ण सोच विचार ऊपर ही हो जाता है और मूलभूत मसलों पर भी उनकी राय नहीं ली जाती। इस प्रकार उनमें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की क्षमता बिलकुल नहीं है और उन्हें अपने विचार स्वयं सोचने और रखने के लिए कभी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

हमारा कार्य अब भी हलचल मचाने के ढङ्ग का है, यद्यपि उसका समय बहुत पहिले बीत चुका है।

यह सब बदला जाना चाहिये। हमें ग्रामों के लिए एक नव जीवन आन्दोलन चलाना चाहिये जिसका उद्देश्य लोगों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन को दूर करने का होना चाहिये, जिससे उन्हें ये ध्येय प्राप्त हों, और उनमें सहकारी और जनतन्त्रीय आदतों का विकास हो।

## हिन्दू और मुसलमान

साम्प्रदायिक समस्या को वैज्ञानिक ढङ्ग से सुलझाने का प्रयास किया जाना चाहिये। इस मसले को वह झूठी कल्पना करके सरल बनाना ठीक नहीं कि तीसरी पार्टी के चले जाने से यह समस्या आप ही सुलझ जायगी, अथवा जिन्ना साहब मुस्लिम लीग की आसुरी प्रेरणा हैं। हममें से बहुतेरे मुस्लिम मस्तिष्क से न तो परिचित हैं और न परिचित होने का प्रयास करते हैं। हमें ज्ञात होना चाहिये कि मुस्लिम इतिहास का निर्माण कुछ अदृश्य शक्तियां कर रही हैं और हमें उन्हें समझने का प्रयत्न करना चाहिये। जो समस्यायें हमसे घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं, उनका अध्ययन करने के लिए केन्द्र में एक कार्यपटु सचिवालय (Socretariat) होना चाहिये।

## सामंजस्य—सम्प्रदायवाद नहीं

हमें मानना चाहिये कि दुनियां एक संघर्ष और कशमकश के समय में होकर गुजर रही है, और भारत इसका कोई अपवाद नहीं है। एक शक्तिशाली विद्यार्थी आंदोलन सदैव सभ्यता और सामाजिक ढांचे के मध्य समन्वयाभाव का परिचायक होता है। वह राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं की बढ़ती हुई डांवाडोल स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। परम्परागत मर्यादाओं के विरुद्ध युवक-विद्रोह आकस्मिक घटना नहीं है और उसे यह कह कर नहीं टाला जा सकता कि वर्तमान पीढ़ी का नैतिक पतन हो गया है। हमें पूछना चाहिए कि बृद्धां और युवकों के बीच इतना अन्तर क्यों है और क्यों युवक जन नवीन विचारों, आदर्शों और मूल्यों का समर्थन करते हैं।

हम एक युग के अन्तिम छोर पर खड़े हैं और जब तक एक संतुलन स्थापित नहीं होता और एक ऐसा नवीन समन्वय नहीं हो

जाता जो सब महत्वपूर्ण तत्वों को मान्य हो, तब तक गड़बड़ और अव्यवस्था का समय चलता रहेगा। ऐसे समय में केवल ऐसी संस्था ही सफलतापूर्वक इस परिस्थिति को सँभाल सकेगी जिसमें सब पक्षों का महत्तम समापवर्त्य निकालने की बुद्धिमत्ता और साहस हो, जो प्रमुख तत्वों को सन्तुष्ट कर सके और लक्ष्यों और उद्देश्यों की सर्वस्पर्शी व्याख्या कर सके। इस अवस्था का इलाज आधार को और भी संकीर्ण करने में नहीं है, बल्कि उसे विस्तृत बना कर एक सामञ्जस्य ढूँढ़ने में है। जब राष्ट्रीय संघर्ष के कारण नवीन शक्तियों का उदय होता है तब नवीन सामञ्जस्य सदैव करना पड़ता है। परन्तु यह सामञ्जस्य सम्प्रदायवादी न होना चाहिए। धर्म को केवल एक पन्थ न बन जाना चाहिए। केवल इसी प्रकार एक पन्थवाद में सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है, और धर्म अपने अन्तर में अनेक मत-मतान्तरों को प्रश्रय दे सकता है, जो किंचित दार्शनिक और अनुशासन-विषयक मतभेदों के होते हुए भी उन मूलभूत सिद्धान्तों पर एक मत होते हैं जिनका धर्म प्रतिपादन करता है।

बस कुछ शब्द साम्प्रदायिक लोगों से कहने हैं। यह सत्य है कि क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए एक सैद्धांतिक आधार आवश्यक है। परन्तु हमें कट्टरपंथी नहीं होना चाहिए और अनुभव से शिक्षा लेनी चाहिए। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। लेनिन को गेटे के इस कथन को दुहराने का बड़ा चाव था कि "सिद्धान्त धूमिल होते हैं, परन्तु जीवन का वृक्ष सदैव हरा रहता है"। उसने यह भी कहा है कि रत्ती भर आचरण मनों काल्पनिक विचारों से अच्छा है। यदि सिद्धान्त को व्यवहार से पृथक कर दिया जाय तो थोथे विचारों का जमघट खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार सिद्धान्तहीन और आदर्शहीन क्रिया अन्धी और अण्ट-शण्ट होती है इसके अतिरिक्त व्यवहार से, कर्म करने से, विचारों

में स्पष्टता आती है और यदि विचार-पद्धतियों को जीवन से अछूता रखा जाय तो वे जड़ीभूत हो जाती हैं।

एक विशेष खतरा आज हमारे ऊपर मँडरा रहा है। प्रजातन्त्र किसी संस्था के आदर्शों पर ही नहीं, बल्कि स्वरूप पर भी निर्भर करता है। कांग्रेस का विकास अधिकाधिक जनतन्त्र की दिशा में हुआ है। परन्तु पिछले कुछ समय से कुछ विपरीत प्रगति हुई है। वर्तमान युग व्यक्ति को छोड़कर संस्था पर अधिक बल देने लगा है और समूहवादी (Collectivist) प्रवृत्तियाँ जोरों पर है। उससे प्रजातन्त्रीय स्वाधीनता कम होती है और तानाशाही प्रवृत्तियाँ अप्रत्यक्ष रूप से विकसित होती है। ठोस संगठन और अनुशासन के नाम में हमें एक ऐसी सीमित और घटाटोप संस्था नही बनानी चाहिये, जो आगे चलकर तानाशाही राजनीतिक दावपेंचों का साधन बन जाय। जो संस्था सत्ता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करती है, वह जो राज्य स्थापित करेगी, उसपर अपने स्वरूप की छाप डालेगी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कोमिन्तांग है। यदि कोई राष्ट्रीय संस्था प्रजातन्त्र लाना चाहती है, तो उसके भीतर उन समूहों के लिए अवश्य स्थान होगा जिनका उसके साथ आध्यात्मिक तादात्म्य है और जो उसके निर्णयों को मानने को तैयार है।

इसके पहिले कि हम यह तय कर सकें कि कांग्रेस का नवीन संगठन स्वरूप क्या होना चाहिये, हमें इन प्रश्नों में से कुछेक उत्तर कर देना है। एक फलप्रद नीति तभी निर्धारित की जा सकती है जब हम अवसर के अनुकूल ऊपर उठकर साहस और दृष्टि-विशालता का परिचय दें, जिससे अवसरों का पूरा लाभ उठाया जा सके।

सबसे अधिक हमें जनसाधारण को संकीर्णमना और स्वार्थी न समझना चाहिये उनका सिद्धान्तवाद सामाजिक अधिकार वंचितों

की मुक्ति का उद्देश्य लिए हुये हैं। यदि हम उनकी ठीक ठीक सेवा करना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम उन्हें संरक्षण में न रखकर अपने पैरों पर खड़े कर दें, जिससे वे अपना भाग्य निर्माण कर सकें और उच्चतर संस्कृति का विश्व-व्यापी आन्दोलन उठा सकें। हमें यह भी याद रखना चाहिये, कि इतिहास ने जो कार्य-भार उनके ऊपर डाला है, उसे सम्पादित करने के लिए उन्हें दैनिक भोजन से भी अधिक आवश्यकता साहस और स्वाधीनता की है।

हम विदेशी उत्पीड़न की व्यथा को दीर्घकाल से सहते आये हैं। जिस युग में हम रहते हैं, उसकी प्रगति में उचित हाथ बंटाने से हमें वंचित रखा गया। यदि गतकालीन बुराइयों का परिष्कार करना है और यदि हमें स्वतन्त्र विकास का अधिकार प्राप्त करना है. और यदि हमें जनसाधारण को ऊंचा उठाना है तो हमें अपने राष्ट्र के लिए पूर्व स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। परन्तु यह कार्य हमें जनसाधारण को दूर फेंककर अथवा उनके पूर्णतम विकास की अवस्थाओं को नष्ट करके नहीं करना है। उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए लड़ते हुये भी, हमें उनकी सामाजिक मुक्ति के निमित्त संगठित प्रयास का आधार जुटाने का प्रयत्न करना चाहिये। स्वराज्य का अर्थ होना चाहिए जनसाधारण के लिए भी, आत्मनियन्त्रण और आत्म-निर्णय।

———

# आगे बढ़ना

## [ ७ ]

### ६ अगस्त, १६४६ के अवसर पर

भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास में ६ अगस्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तिथि है। इस दिन भारतीय जनता ने विदेशी जुए को उतार फेंकने का प्रथम गम्भीर प्रयास किया था। प्रथाम बार इस देश में जन-क्रान्ति का क्षुब्ध गर्जन हुआ, और एक नवीन कल्पना और आशा से प्रेरित जन-समुद्र में ज्वार उठा।

जन-समुदाय ने प्राकृतिक भूत-शक्तियों की नाई कार्य किया और ब्रिटिश शासन की नींव तक हिल उठी। परन्तु कुछेक अन्तर्निहित कमजोरियों के कारण, आन्दोलन अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असमर्थ रहा। साम्राज्यवादी गुर्गेशाही ने आन्दोलन को निर्दयता से कुचला और जनता पर दमन और आतक का नग्न ताण्डव हुआ। लोगों को नजरबन्दी, कारावास, कोड़ों की मार सामूहिक जुर्माने, वम वर्षा, हत्या, लूट, अग्निकाण्ड इत्यादि सहने पड़े और नागरिक और प्रेस के अधिकारों को छीन लिया गया।

इस भयंकर दमन के कारण जनता को काठ सा मार गया और उसकी भावनायें कुण्ठित होगईं। परन्तु यह कुण्ठित मनः स्थिति अधिक दिन न चली क्योंकि राष्ट्र ने एक ऐसा स्वप्न देख लिया था जिसके संस्कार दमन और पुलिस जुल्म की पराकाष्ठा से भी नही मिट सकते थे, और जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, लोग फिर अपनी साधारण मनः स्थिति पर आने लगे। आजाद हिन्द फौज का मुकद्दमा और जल-सेना की हड़ताल अर्थपूर्ण घटनायें थीं, और उन्होंने यह स्पष्ट प्रभावित कर दिया कि विद्रोह की भावना मरी नहीं थी बल्कि युद्धोत्तर काल की विश्व स्थिति की भूमिका में वस्तुतः फिर प्रज्वलित हो उठी थी। सैनिक शासन के नीचे, युद्धकाल में जो शक्तियाँ दबाकर रखी गई थीं, वे फूट पड़ीं, और बहुत से पराधीन देशों में जन-विप्लव सहज रूप से फट पड़े। यह समय वास्तव में क्रान्तिकारी और महती सम्भावनायें लिए हुये है। सब ओर ब्रिटिश साम्राज्य चरचरा कर टूट रहा है। हमें अपने अधिकार से ब्रिटिश शक्ति बंचित नही कर रही है, बल्कि हमारी क्रान्तिकारी संकल्प की कमी ही इस देरी का कारण है।

सन् १९४२ का शानदार संघर्ष ८ अगस्त के महत्वपूर्ण प्रस्ताव का परिणाम था। उस प्रस्ताव में कांग्रेस के ध्येय की परिभाषा और उसकी नीति की व्यवस्था की गई है। उसका लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना ही नहीं है, बल्कि उसमें जिस नवीन आर्थिक और राजनैतिक ढांचे की कल्पना की गई है, उसमें एक नवीन समाज की नींव रखने की आवश्यकता भी व्यक्त की गई है। वह सम्पूर्ण सत्ता जनता को सौंपना चाहता है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता की उच्च भावना से ओतप्रोत है। उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वतन्त्र भारत आत्म-सीमित नहीं रहेगा, वरन् संसार को सहकारी आधार पर संगठित करने में अपना भाग और कर्तव्य पूरा

करने के लिए प्रस्तुत रहेगा। उसमें घोषणा की गई है कि भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों के संघ में सम्मिलित होगा और विश्व-शांति में योग देगा।

८ अगस्त का प्रस्ताव युग की भावना के अनुरूप और समय की माँगों के अनुसार है। उसमें जनतन्त्र और अन्तर्राष्ट्रवाद का नाद है और जनसाधारण की सर्वोच्चता की घोषणा है। आज उस प्रस्ताव को दुहराने की और उसके सब पहलुओं पर जोर देने की आवश्यकता है। उसका प्रकाश हमारे सामने है; अन्य दिशाओं में हमें अपनी कार्य-शक्ति को व्यर्थ न गंवाना चाहिए। आइए हम स्मरणीय दिवस पर उस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का पवित्र संकल्प करें।

हमें याद रखना चाहिए कि सन् १९४२ के शहीदों का हमारे ऊपर जो ऋण है वह तभी चुक सकता है जब तक हम उस कार्य को पूरा करें जिसका उन्होंने शानदार श्रीगणेश किया था। हमें संगठन के महान कार्य में जुट जाना चाहिए, जिससे नियत समय पर हम अप्रस्तुत न पाए जाँय। हमें अपने सामने जो कार्य है उसका ज्ञान होना चाहिए, जिससे हम न केवल विदेशी साम्राज्यवाद को ध्वस्त कर सकें, बल्कि प्रजातन्त्र, सहकारिता, आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के ऊपर आधारित एक नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना कर सकें।

———

: ६ :

# एक छोटा सा पाठ्यक्रम (१९४५)

# एक छोटा सा पाठ्यक्रम (१६४५)

यह पाठ्यक्रम विद्यार्थी आन्दोलन की अध्ययन शाखाओं के लिए है। इसमें विचारों को समझ लेने की विकसित योग्यता की आवश्यकता पड़ेगी। इसका उद्देश्य है सामाजिक और राजनीतिक समस्यायों के व्यवहारिक अध्ययन के लिए मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना, और, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायों के प्रति हमारे युवकों को सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण देना। इस प्रकार तैयारी करके युवक-युवतियां हमारे दिन प्रतिदिन के प्रश्नों का विश्लेषण कर सकेंगे उनके ठीक हल निकाल सकेंगे, और बांछित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक कार्य पद्धति निर्धारित कर सकेंगे।

यह ध्यान देने योग्य है कि पाठ्यक्रम किसी विशेष विचार-धारा का प्रतिपादन नहीं करता। इसमें विचारों पर एकसी टकसाली मुहर लगाने की कोई योजना नहीं है। न इसमें मानसिक तटस्थता का सिद्धान्त काम कर रहा है। इसकी प्रवृत्ति साधारणतः प्रगतिशील विचारों की ओर है। इसका ध्येय समालोचनात्मक विश्लेषण शक्ति का विकास करना और हमारे युग-समुदाय में प्रत्येक समस्या के प्रति विचारात्मक दृष्टिकोण पैदा करता है। आशा है कि यह भारतीय युवकों में एक ऐसे मानसिक और सांस्कृतिक वातावरण

का सृजन करेगा जो संकीर्ण साम्प्रदायिक, जातीय, वर्ग विषयक और राष्ट्रीय पक्षपात से भी रहित होगा और एक ऐसे पक्के विचार-वादी दृष्टिकोण के विकास के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि और आधार उपस्थित करेगा, जो सामाजिक न्याय, स्वाधीनता, और समानता के महान् आदर्शों में सजीव विश्वास पर, और विस्तृत मानवता पर आश्रित होगा।

पाठ्यक्रम के अन्त में पुस्तकों के नाम विभागों में बंटे हुए मिलेंगे। यह आवश्यक नहीं कि सब विद्यार्थी प्रत्येक विभाग में की सब पुस्तकों का प्रत्येक परिच्छेद पढ़ें। इनमें से कुछेक किताबें अथवा उनके अश स्पष्टतः अधिक विस्तृत अथवा गहन अध्ययन के लिए हैं। अनुमान है कि प्रत्येक विभाग में से कम से कम तीन से पांच किताबे तक विषय के समुचित परिज्ञान के लिए आवश्यक होंगी। इन किताबों को विद्यार्थियों के लिए छांटने का काम अध्ययन शाखाओं के संचालक अपने गुरुजनों की सलाह से करेंगे। कुछेक अत्यावश्यक पुस्तके पुष्पांकित कर दी गई हैं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें विश्वविद्यालयों और विद्यालयों के पुस्तकालयों अथवा सार्वजनिक पुस्तकालयों में मिल जानी चाहिये।

**सामान्य समाजशास्त्र :**

समाजशास्त्र का क्षेत्र और पद्धति—महद् समाज और समाज—व्यक्ति और समाज—उनका परस्पर सम्बन्ध और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध—व्यक्ति और उसका वातावरण—पैतृक सस्कार और वातावरण—सामाजिक जीवन का मानसशास्त्रीय आधार—समूह, वर्ग, जातियां, और सम्प्रदाय—संगठन-संस्थायें और रीति रिवाज—जाति, समुदाय, राष्ट्र, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रवाद—राज्य, उसका स्वरूप, और समाज में स्थान और कार्य—सामाजिक जीवन का प्राकृतिक, भौगोलिक अथवा प्रादेशिक आधार—इतिहास की

आर्थिक व्याख्या सामाजिक परिवर्तन के नियम—विकास और क्रान्ति।

**वर्तमान विश्व और भारत :**

भारत, यूरोप, अमेरिका, रूस और चीन का पिछले २५ वर्ष का सामान्य सामाजिक और राजनैतिक परिशीलन – एशिया और यूरोप की सांस्कृतिक धारायें—विश्व के और भारत के स्वातन्त्र्य आन्दोलन, आर्थिक और राजनैतिक संघर्ष, वर्गों के मध्य और देशों के बीच संघर्ष।

**आर्थिक समस्या :**

वर्तमान आर्थिक समाज—आर्थिक सिद्धान्त—आर्थिक संकट—साम्राज्यवाद, फासिज्म और युद्ध—बेकारी को काबू में करना और गरीबी को दूर करना—योजनात्मक अर्थ व्यवस्था—योजनात्मक उत्पादन के लिए सामाजिक आधार और कार्य-यन्त्र (Machinary) का सृजन - आर्थिक विचारधारा का इतिहास।

**राजनैतिक समस्या :**

ऐतिहासिक भूमिका में राज्य—वर्तमान राज्य का सिद्धान्तपक्ष और व्यवहार पक्ष—सामन्तवादी समाज, बुर्जुआ जनतन्त्र, सामाजिक प्रजातन्त्र, फासिज्म—वह राज्य जो बेकारी और गरीबी को दूर करेगा—मानव व्यक्तित्व के पूर्णतम और स्वतन्त्रतम विकास का राजनैतिक आधार—वर्ग प्रभुत्व—निरंकुशसत्तावाद और नौकरशाही की समस्या—प्रजातन्त्रीय पद्धति; मूलभूत नागरिक स्वाधीनताओं पर आधारित प्रतिनिध्यात्मक और उत्तरदायी शासन के द्वारा जनता का, बहुसंख्यकों का राज्य—भावी राज्य के ढांचे में आवश्यक केन्द्रवाद (centralism), संघवाद (federalism), और बहुत्यवार (Pluralism) की सीमा—मानव व्यक्तित्व को नष्ट

किए बिना सामाजिक क्रान्ति करने का कार्यक्रम—राजनैतिक विचार धारा का इतिहास

**विद्यार्थी और युवक आन्दोलन :**

संसार के युवक और विद्यार्थी आन्दोलनों का अध्ययन जिसमें विश्व के युवकों के सांस्कृतिक विकास के कार्यक्रम की ओर, और शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रगति के आदर्शों के लिये संघर्ष करने के दृढ़ सङ्कल्प से प्रेरित, और मानवता पर आधारित एक विश्व संस्कृति के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

## अध्ययन के लिए पुस्तकें

**सामान्य समाजशास्त्र :**

१. मैक आइवर : समाजविज्ञान के मूलतत्व (मैथुएन)

*२. कार्ल मैनहीस : मनुष्य और समाज (केगन पौल)

*३. गिन्सबर्ग : समाजशास्त्र (होम यूनीवर्सिटी)

४. बार्न्स : समाजशास्त्र और राजनैतिक सिद्धांत (एलफ्रेड ए० नौथ, न्यूयार्क)

५. ऐंजिल्स : कुटुम्ब वैयक्तिक सम्पति और राज्य का उद्गम (बर्मन पब्लिशिग हाउस, कलकत्ता)

६. गोर्डन ईस्ट : इतिहास के पीछे भूगोल (थॉमस नेल्सन एण्ड सन्स)

*७. सी० ए० बेयर्ड : राजनीति का आर्थिक आधार (ऐलेन एण्ड अनविन)

*८. जी० प्लैखैनोव : मार्क्सवाद की मूलभूत समस्यायें (बर्मन प० हाउस कलकत्ता)

९. जान मैकमरे : सर्जनात्मक समाज

*१० जे० बी० कोट्स : दस आधुनिक ऋषि।

*११. आर० नाइवर : नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज।

**आज का विश्व और भारत :**

*१२. जवाहरलाल : विश्व इतिहास की झलक (किताबिस्तान)

*१३. लिप्सन : यूरोप (१६१४-१६) (ए एण्ड सी ब्लैक)

१४. हैन्सलक : वैदेशिक मामले (१६१६-३७) केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस)

१५. जी० एम० हार्डी : अन्तर्राष्ट्रीय मामलों (१६२०-३६) का संक्षिप्त इतिहास (आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस)

१६. लौन्गमैंस : १६३६ से लेकर युद्ध की कथा (१६४१ का संस्करण) (मैक्समिलन)

१७. कार्ल मैनहीम : हमारे समय का रोग-निदान (केगनपौल)

*१८. आर्थर रोजिनबर्ग : बोल्शेविज्म (साम्यवाद) का इतिहास (ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस)

*१६. मौरिस हिन्डस : मातृभूमि रूस

२०. जेम्स बर्नहैम : प्रबन्धकीय क्रान्ति

*२१. हैन्स कोन : पूर्व में राष्ट्रवाद का इतिहास (रटलेज)

*२२. जेम्स ट्रसलो एडम्स : अमरीका का महाकाव्य (रटलेज)

२३. टैन्ग लिएन्गली : चीनी क्रान्ति का आन्तरिक इतिहास (रटलेज)

२४. टौनी : चीन में भूमि और श्रम (एलेन एण्ड अनविन)

*२५. लिनयुतॉग: मेरा देश और मेरे देशभाई (डब्ल्यू० हनीमैन लन्दन)

२६. विलियम जेम्स : धार्मिक अनुभवों के विविध प्रकार (लौंगमैन्स)

२७. ए० एफ० हैटर्सली : पश्चिमी सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

२८. भगवानदास : हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था (केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस)

*२६. जे० बी० कृपलानी : गान्धीवादी जीवन-प्रणाली

*३०. मेरे सत्य के प्रयोग ( नवजीवन प्रेस )

*३१. जवाहरलाल नेहरू : मेरी आत्मकथा (बोडले हैड लंदन)

*३२. सर्वपल्ली राधाकृष्ण : जीवन का हिन्दू दृष्टिकोण (केंब्रिज यू० प्रेस)

*३३. ताराचन्द : भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव इ० प्रेस इलाहाबाद )

*३४. शेलवन्कर : भारत की समस्यायें ( पैन्गुइन )

३५. डौडवैल : आधुनिक भारत ( एरो स्मिथ, ब्रिस्टल )

*३६. डब्ल्यू० सी० स्मिथ : भारत मे आधुनिक इस्लाम ( मिनर्वा बुक डिपो, लाहौर )

*३७. शौकतुल्ला अन्सारी : पाकिस्तान

*३८. वाडिया और मर्चेन्ट : हमारी आर्थिक समस्या ( न्यू बुक कम्पनी, बम्बई )

*३६.मार्गरेट रीड : उखड़ा हुआ भारतीय कृषक वर्ग (भारतीय श्रम-सम्बन्धी विटले कमीशन रिपोर्ट का संक्षिप्त रूप। ( लौंगमैन्स )

*४०.फ्लाउड : बंगाल के भूमिकर पर फ्लाउड कमीशन की रिपोर्ट ( १६३८ ) जिल्द १.

आर्थिक समस्या :

*४१. हेनरी क्ले : सामान्य पाठकों के लिए अर्थशास्त्र (मैकमिलन)

*४२. एम० डौब : अर्थशास्त्र और पूँजीवाद (गोलेंज)

*४३. के० कौत्सकी : कार्ल मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत

*४४. जी० डी० एच० कोल : विश्व की गड़बड़ी में विचारशीलों का पथ-प्रदर्शक ( गोलेंज )

*४५. जी० डी० एच० कोल : योजनात्मक अर्थव्यवस्था।

*४६. जी० डी० एच० कोल : समाजवादी योजना का कार्य-यन्त्र ( होगर्थ प्रेस )

*४७. जे० ए० हौब्सन : साम्राज्यवाद

४८. ल्योनार्ड बुल्फ: साम्राज्यवाद और सभ्यता ( होगर्थ प्रेस )

४६. ए० ग्रे : आर्थिक सिद्धांतों का विकास ( लौन्गमैन्स )

*५०. (अ) बम्बई योजना (ब) गांधी योजना (स) जनतावादी योजना

राजनैतिक समस्या :

*५१. हैरोल्ड लास्की : राजनीति-शास्त्र का प्रारम्भिक परिचय ( एलेन एएड अनविन )

*५२. हैरोल्ड लास्की : आधुनिक राज्य में स्वतन्त्रता (पैलिकन)

*५३. सी० ई० एम० जोड : आधुनिक राजनीति-शास्त्र के सिद्धांतों का प्रारम्भिक परिचय ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस )

५४. आइवर ब्राउन : जनतन्त्र का अर्थ ( इकवर्थ )

५५. जी० डी० एच० कोल : आधुनिक राजनीति-पथप्रदर्शक

*५६. सिडनी वैब : पूँजीवादी सभ्यता का ह्रास ( फेबियन, सन्स लि० लन्दन )

*५७. एफ० एन्जिल्स : समाजवाद—आदर्श कल्पनात्मक और वैज्ञानिक ( बर्मन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता )

*५८. लेनिन : राज्य और क्रान्ति ( बर्मन प० हाउस कलकत्ता )

*५६. लेनिन : वामपक्षी साम्यवाद (बर्मन प० हाउस कलकत्ता)

६०. जे० स्टार्ची : समाजवाद का सिद्धांतपक्ष और व्यवहारपक्ष ( गोलेंज )

*६१. बर्ट्रेण्ड रसेल : स्वाधीनता के मार्ग ( एलेन एएड अनविन )

*६२. आर० एच० टौनी : सग्रही समाज ( एलेन एण्ड अनविन )

*६३. जी० डी० एच० कोल : फेबियन समाजवाद ( एलेन एण्ड अनविन )

६४. हैरोल्ड लास्की : स्वतन्त्रता के दाँवपेच ( एलेन एण्ड अनविन )

६५. आर० जी० गेटेल : राजनैतिक विचारधारा का इतिहास ( एलेन एण्ड अनविन )

विद्यार्थी और युवक आन्दोलन :

*६६. महात्मा गांधी : विद्यार्थियों से

६७. जे० एच० रेडेल : आधुनिक मस्तिष्क का निर्माण

६८. टी० सी० वांग : चीन का युवक आन्दोलन ( न्यू रिपब्लिक न्यूयार्क )

*६९. आर० लिन्कन : पुराने के बदले नए मस्तिष्क ( मुलर )

७०. जे० डब्ल्यू० टेलर : जर्मनी में युवक-सुख-समृद्धि ( बेयर्ड वार्ड को० यू० एस० ए० )

*७१. क्लौस मैनहर्ट : सोवियत रूस के युवक ( एलेन एण्ड अनविन )

७२. बेसिल मैथ्यूज : तरुण इस्लाम की यात्रा ( एच० ओ० पी० एडिनबरा )

: १० :

# पण्डित जवाहरलाल नेहरू (१६४६)

# पं० जवाहरलाल नेहरू

यद्यपि जब पंडित जवराहरलाल नेहरू इङ्गलैण्ड में विद्यार्थी थे, तब फोबियन समाजवाद की ओर उन्होंने एक अस्पष्ट आकर्षण अनुभव किया था, तथापि यह निश्चित है कि वे निर्णयात्मक रूप से समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में सन् १६२६-२७ की अपनी यूरोप-यात्रा में आये थे। अनेक मनीषियों और सहृदय व्यक्तियों पर रूसी क्रान्ति का गहरा प्रभाव पड़ा था, और उससे भी अधिक प्रभाव पड़ा था समाज के आर्थिक आधारों को पुनर्गठित करने के उस सोवियत प्रयोग का, जिसका उद्देश्य जनसमुदाय की सुखसमृद्धि करना और सब प्रकार के शोषण का अन्त करना था। वे सहृदय मनस्वी भी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि कोरी राजनीतिक स्वाधीनता जनता के किसी काम की नहीं होती जब तक कि साथ ही समाज के आर्थिक और सामाजिक ढांचे में मूलभूत परिवर्तन न किये जायँ। वे सामाजिक अन्याय, शोषण, गरीबी, और व्यथा की समस्या से तंग थे और पराधीन औपनिवेशिक देशों में जहां प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् अलौकिक जनजागृति हुई थी, विचारशील व्यक्ति अपने आपसे यह प्रश्न पूछ रहे थे कि क्या केवल राजनीतिक स्वाधीनता से ये समस्यायें हल हो जायेंगी। रूसी प्रयोग ने मार्ग दिखला दिया था, और भारत में प्रत्येक सहृदय विचारक ने स्वराज्य

की जनतावादी परिभाषा करना और स्वाधीनता के राजनैतिक विचार में सामाजिक रंग भरना प्रारम्भ कर दिया।

सन् १९२७ में यूरोप से लौटने के पश्चात् जवाहरलाल जी ने कांग्रेस को एक नवीन रंगत देनी प्रारम्भ की। अपने विद्यार्थी काल में वे तिलक के अनुगामी और पक्के राष्ट्रवादी थे। परन्तु अब उनके समाजवादी दृष्टिकोण ने उन्हें वस्तुओं का एक नया रूप दिखाया, और उनके लिये सबसे बड़ा प्रश्न यह बन गया कि जिस स्वराज्य के लिए हम लड़ रहे हैं, उसका यथार्थ स्वरूप कैसा होना चाहिये, और उसे प्राप्त करने का क्या उपाय होना चाहिये।

मार्क्सवाद ने उनको वास्तविक समस्याओं के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका भी दिया था। इस तरीके के प्रयोग से आप मनुष्यों और घटनाओं का गहरा विश्लेषण कर सकते हैं, क्योंकि आप उन्हे अलग करके नहीं देखते, बल्कि उस सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित देखते हैं, जिसकी वे उपज हैं। ऐसे विश्लेषण से आप प्रत्येक घटना और प्रत्येक व्यक्ति का अपने युग से सम्बन्ध देख सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को उचित कार्य-भाग और वर्तमान में उसके महत्व का भी अनुमान लगा सकते हैं। जवाहरलाल जी हमारी समस्याओं पर इस तरीके को बरतने का प्रयास करते हैं, और हमारे सामने उनको अधिक से अधिक संश्लिष्ट रूप में रख देते हैं। वे वास्तविक मूल्य की प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। वे उन अदृश्य ऐतिहासिक शक्तियों को समझने का प्रयत्न करते हैं जिनके क्षणिक निमित्त-पात्र हम मानव हैं। इस प्रकार वे बाह्य स्वरूपों से धोखा नहीं खाते, बल्कि उनकी तह में पहुँच कर उन शक्तियों की क्रिया को समझने का प्रयास करते हैं, जो हमारी आंखों से ओझल रहती हैं।

एक मूलभूत प्रश्न जिसका अधिक स्पष्ट व्याख्यान होने की आवश्यकता थी, यह था कि हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य अधिक से अधिक औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने का है अथवा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का।

इस प्रश्न का कभी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया गया था, और यह डर नहीं, नहीं, पूर्ण सम्भावना—सदैव से थी, कि ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के साथ समझौते की नीति बरती जायगी। अतः हमारे राजनीतिक ध्येय के इस मूलभूत मसले को उठाना जरूरी था जिससे समझौते और आत्मसमर्पण की नीतियों का अन्त हो, और क्रान्ति-कारी कार्रवाई के कार्यक्रम के लिए मार्ग परिष्कृत हो जाय। यह प्रश्न पहले पहल सन् १९०६ में स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में गरमदल वालों के द्वारा उठाया गया था जिनके नायक लोकमान्य तिलक थे। उसके पश्चात् और भी छुटपुट प्रयत्न समय समय पर होते रहे, परन्तु सफलता न मिली। जवाहरलालजी ने सन् १९२७ में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में इस प्रश्न को उठाया और पूर्ण-स्वतन्त्रता के पक्ष में अविरोध प्रस्ताव पास करा लिया, यद्यपि पुराना सिद्धान्तवाद फिर भी ज्यों का त्यों रखा गया। महात्माजी ने जो उस वर्ष कांग्रेस अधिवेशन में भाग नहीं ले पाये थे। इस प्रस्ताव को पसन्द नहीं किया। इसके अतिरिक्त जब तक सिद्धान्तवाद में परिवर्तन न होता, तब तक स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। अतः कांग्रेस से नवीन सिद्धान्तवाद को अपनाने की आशा करने से पहले किसी नवीन संस्था के द्वारा देश में कुछ प्रारम्भिक कार्य करना आवश्यक समझा गया। इस कारण से, जवाहरलालजी ने सन् १९२८ में अन्यों के सहयोग से 'भारतीय स्वाधीनता लीग' की नींव डाली। यह ध्यान देने योग्य है कि इस लीग का ध्येय भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही नहीं था; अपितु सामाजिक और

आर्थिक समानता के आधार पर भारतीय समाज का पुनर्गठन करना भी था। सन् १९२८ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में यह प्रश्न फिर उठाया गया और बहुत वादविवाद के पश्चात् अगली साल के लिए स्थगित कर दिया गया जब लाहौर में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की अटल प्रतिज्ञा की।

यह साफ साफ समझ लेना चाहिए कि इस राजनीतिक ध्येय का प्रतिपादन करते हुये जवाहरलालजी यह कभी नहीं चाहते थे कि भारत का अलग एकाकी अस्तित्व रहे। प्रथम तो वर्तमान युग ही पारस्परिक निर्भरता का है फिर समाजवादी होने के नाते से वे संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं हो सकते थे। यथार्थ में औपनिवेशिक स्वराज्य के मिलने से भारत विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सीधा भाग लेने से वंचित रह जायगा। वह उस राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था से बँध जायगा जिसका प्रतिनिधि इङ्गलैण्ड है। हम ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों से जाति धर्म और भाषा में भिन्न हैं और जिस राजनैतिक और आर्थिक विचार-पद्धति का राष्ट्रमंडल समर्थक है वह भी हमारे लिए अजनबी चीज है। औपनिवेशिक स्वराज्य के कारण, अत्यन्त प्राचीन सभ्यता और विशाल जन-धन के साधनों वाला भारत ब्रिटेन के रथ चक्र से बँध जायगा और एशिया में अपना कार्य भाग अदा करने की उसे स्वतन्त्रता न रहेगी। भारत एक एशियाई शक्ति है और उसका उचित स्थान प्रथमतः एशियाई जनता के संघ में है।

जवाहरलालजी ने वर्ग-संगठन में बड़ी दिलचस्पी ली। वे सन् १९३९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभापति चुने गये और उनका सतत प्रयास यह रहा है कि श्रमिकों के आर्थिक संघर्षों में कांग्रेस दिलचस्पी लेने लगे। उन्होंने आर्थिक प्रश्नों को सबसे आगे लाने का प्रयास किया। सन् १९३१ की कराँची कांग्रेस

में मूलभूत अधिकारों का जो प्रस्ताव पास किया गया था वह उनकी ही सूझ थी। उन सरगर्मियों के कारण देश की राजनैतिक विचार धारा में एक आम अग्रगामी रंगत आगई। उन्होंने कांग्रेस पर एक लड़ाकू कार्यक्रम अपनाने के लिए भी जोर डाला। उन्होंने सबसे पहिले देश का ध्यान युद्ध की विभीषिका की ओर खींचा और साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करने के लिए उसे तैयार किया। वे भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिकाधिक ले गये और अपने अन्तर्राष्ट्रवाद से उन्होंने भारतीय पक्ष के लिए संसार के प्रगतिशील लोगों की सहानुभूति प्राप्त की। उन्होंने कांग्रेस को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गहरी दिलचस्पी लेने को तैयार किया, और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर समय समय जो प्रस्ताव पास हुए वे उनकी करामात थे। उन्होंने शनैः शनैः गैर सरकारी भारत की (जिसकी प्रतिनिधि स्वरूप कांग्रेस थी) एक वैदेशिक नीति भी विकसित की।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि गान्धीजी के व्यक्तित्व ने और उनके नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा चलाये गये जन-आन्दोलन ने व्यापक रूप से बाहर का ध्यान भारतीय मामलों की ओर खींचा था, परन्तु यह भी सत्य है कि यदि जवाहरलालजी की प्रेरणा से कांग्रेस ने विश्व के मामलों में अभिरुचि न दिखाई होती, और संसार की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देने की तीव्र आकांक्षा व्यक्त न की होती तो दुनियाँ ने भी भारतीय मामलों में वह गहरी और स्थायी दिलचस्पी न दिखाई है। सब स्थानों पर प्रगतिवादी लोग गान्धीजी के नवीन प्रयोग में दिलचस्पी रखते थे और भारत के स्वाधीन होने के पक्षपाती थे, परन्तु वे गान्धीजी को मुख्यतः राष्ट्रवादी समझते थे और जवाहरलालजी उनके लिए एक समाजवादी और अन्तर्राष्ट्रवादी थे। भारतीय मामलों में विश्व की तीव्र दिलचस्पी मुख्यतः इस तथ्य के कारण थी कि युवक भारत जिसके नमूने जवाहरलालजी थे, आत्मसीमित रहने की

नीति में विश्वास नहीं करता था बल्कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था मे अपना भाग पूरा करने को उत्सुक था। निस्संदेह, यह जवाहरलाल जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है।

यह तथ्य कि आज वे एक अन्तर्राष्ट्रीय हस्ती होगये हैं, इस बात का प्रतीक है कि उन्होंने भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है, और यह तथ्य कि वे भारतीय जनसमुदाय के उपास्यदेव हैं, इस बात का द्योतक है कि कांग्रेस ने जनता का प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया है। क्योंकि, हमें यह न भूलना चाहिए, कि जवाहरलालजी का जीवन और कार्य शृंखला कांग्रेस के साथ बँधी हुई है और उन्होंने उसके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया है। ऐसे अनेक अवसर हुए हैं जब कांग्रेस की कुछेक नीतियों और निर्णयों से उनका भारी मतभेद था, परन्तु किसी निर्णय के हो चुकने पर, उन्होंने पूरे मन से उसका साथ दिया है। जब सन् १९३७ में, उनके विरोध के होते हुए भी कांग्रेस ने पद-ग्रहण के पक्ष में निर्णय किया, तब उनका यह कथन कि 'कांग्रेस गलती नहीं कर सकती' उनके रुख के अनुरूप ही था।

इस तादात्म्य के कारण उन्होंने कांग्रेस पर भारी प्रभाव डाला है और उस पर अपनी अमिट छाप लगादी है। किसी भी समाजवादी दल में सम्मिलित हुए बिना वे सहज ही देश की विस्तृत क्रान्तिकारी और समाजवादी शक्तियों के अगुआ बन गए हैं।

यही कारण है कि वे भारतीय युवकों के हृदय-सम्राट हैं। उनका सशक्त और मोहक व्यक्तित्व सब जगह युवकों को आकर्षित करता है। पंजाबी जनता में उनकी भारतीय लोकप्रियता का भी यही रहस्य है। पंजाब राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है परन्तु फिर भी पंजाब के लोग उनके पीछे पागल हैं। मैं इस बात का इसके

अतिरिक्त और कारण नहीं समझता कि वे भारतीय राजनीति में एक ऐसी शक्ति सम्पन्न विभूति हैं जो संकटों से प्रेम करते हैं और साहस, आत्म बलिदान और स्फूर्तिपूर्ण कार्य का सम्मान करते हैं।

जवाहरलाल जी का मुख्य कार्य भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को आधुनिक प्रवृतियों के अनुसार बनाना, और उसे यथासम्भव, जनतन्त्र और समाजवाद के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा है, उसके साथ जोड़ना रहा है। यह स्पष्ट है कि बहुवर्गीय संस्था होने के कारण कांग्रेस समाजवादी राज्य स्थापित करने का साधन नहीं हो सकती। परन्तु वर्तमान विश्व-स्थिति में, जबर्दस्त शक्तियों की टक्कर के कारण, उसमें एक नवीन रङ्गत लाई जा सकती है, और यथार्थ में, यदि वह अपने पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य के प्रति सच्ची रहना चाहती है तो उसे अधिकाधिक समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में आते चलना चाहिये।

मेरे विचार से जवाहरलाल जी की हलचलों को एक ऐसे व्यक्ति की सरगर्मियाँ बताना जो समाजवादी राज्य की स्थापना के उद्देश्य से कार्य कर रहा है, और इस आधार पर उनकी विरोधपूर्ण आलोचना करना ठीक नहीं होगा। यद्यपि वे पक्के समाजवादी हैं, तथापि उनकी हलचलें अधिकतर प्रजातन्त्र और आर्थिक जन-समुन्नति के आदर्शों से परिचालित होती हैं। वे किसी वाद-विशेष से बँधे हुए नहीं हैं, और न उनकी प्रकृति किसी दल-विशेष के नेता होने के उपयुक्त है। वे वैज्ञानिक समाजवाद के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को मानते हैं, परन्तु वे मार्क्स और लेनिन की प्रत्येक बात में अन्धविश्वास नहीं करते। वे किसी स्थिर, अपरिवर्तनीय सिद्धांत-वाद के अनुयायी नहीं हैं। वे सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करने का दम भरने वाली प्रत्येक विचार-पद्धति के दावे की जांच करने

के लिए अपने आपको स्वतन्त्र समझते हैं, और नवीन अनुभवों के प्रकाश में सदैव अपने विचारों का संशोधन करते रहते हैं। वे जानते हैं कि वस्तुस्थितियाँ सिद्धान्तों से अधिक बलशालिनी होती हैं। पिछले पच्चीस वर्षों के इतिहास ने उनको यह जता दिया है कि भौतिकवाद अब भी एक जीवित शक्ति है, और प्रत्येक युद्ध असम्भावित क्षेत्रों में भी उसे बढ़ावा दे देता है। जो लोग समय-असमय क्रान्तिकारी शब्दसमूह उगलते रहते हैं, और सदैव यही राग अलापते रहते हैं कि देश में क्रान्ति का प्रसव होने वाला है, उनके लिए जवाहरलाल जी के पास धैर्य नहीं है। वे अनिश्चित भविष्य के लिए तत्कालिक सम्भावनाओं का बलिदान कभी नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त, पिछले कुछ सालों में उनका प्रथम समाजवादी आवेश निश्चय ही, कुछ कम हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हाल की विश्व-घटनाओं ने उन्हें गम्भीर और सतर्क बना दिया है, और इसके फलस्वरूप अब उनमें युवक धर्मयोद्धाओं का सा वह आतुर उत्साह नहीं दिखाई देता, जिसका उन्होंने सन् १९३६ ३८ में परिचय दिया था।

इस प्रकार वे साम्प्रदायिक नहीं हैं। उनका अपना विश्वास है, जो लौकिक है, अलौकिक नहीं। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और वे पारलौकिक दर्शन और रहस्यवाद में विश्वास नहीं करते। अतः राजनैतिक प्रश्नों को वे धार्मिक अथवा भावनात्मक दृष्टि से नहीं देखते। धर्म के संस्थावादी स्वरूप से उन्हें घृणा है क्योंकि वह प्रतिक्रिया का गढ़, और जो है, उसे बनाये रखने का पक्षपाती होता है। समाज में उसका कार्य सामाजिक असमानताओं को निम्न वर्गों के लिए कम असह्य बनने का रहा है। परन्तु धर्म के उस शुद्धतर स्वरूप से उनका कोई झगड़ा नहीं है, जो व्यक्तियों को शुभकर्मों की ओर प्रेरित करता है। वे सामाजिक सत्कर्म में विश्वास करते हैं, और

मानवीय मूल्यों की भावना से ओतप्रोत हैं। सामाजिक प्रगति के आदर्शों में उनकी श्रद्धा है। वे जीवन की संयोजता प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के लिए करना चाहते हैं। वे पूर्ण नियन्त्रणवाद (totalitarianism) के विरुद्ध हैं और वैयक्तिक स्वतन्त्रता और योजनात्मक आर्थिक व्यवस्था के बीच का समन्वय ढूँढ़ निकालना चाहते हैं। उनका मत है कि उत्पादन के साधनों का सम्मिलित स्वामित्व हुए बिना जन समुदाय को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, परन्तु उनके विचार से इस ध्येय की प्राप्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कम से कम बलिदान करके होनी चाहिए।

यह सूर्य की भाँति स्पष्ट है कि यदि मनुष्यों को सुरक्षा और स्वतन्त्रता में से एक को चुनने के लिए बाध्य किया जाय, तो वे आर्थिक सुरक्षा को चुनेंगे। अतः आर्थिक सुरक्षा की भावना आये बिना वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं आ सकती। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में यह सम्भव नहीं है। तथापि, आजकल ऐसे भी लोग हैं जो उन्मुक्त उद्यम (free enterprise) पक्ष का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उनकी सम्मति में स्वधीनता लाने का यही एकमात्र मार्ग है। वे कहते हैं कि आर्थिक जीवन के ऊपर नियन्त्रण लगाने से शासन में अफसरशाही की भावना बहुत बढ़ जायगी, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी।

पं० नेहरू इन उन्मुक्त उद्यम के पक्षपातियों से सहमत नहीं होंगे। वे मुक्तकण्ठ से यह मान लेंगे कि संयोजना (planning) राज्य और उसकी नौकरशाही के द्वारा ही की जा सकती है। वे और भी आगे बढ़ कर मान लेंगे कि राज्य के निर्णयों को लागू करने के लिए बलप्रयोग की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु वे भली भांति जानते हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था जनता की बेकारी और गरीबी

की समस्या को कभी न सुलझा सकेगी । उत्पादन के क्षेत्र में अव्यवस्था होने से समाज में अव्यवस्था ही आ सकती है । अतः वे समाजवादी संयोजना की बुराइयों को प्रजातन्त्रीय पद्धतियों का विकास करके रोकना चाहेंगे । यह सम्भव है कि प्रजातन्त्रीय भावना भरने के लिए वे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन करें और सहकारी संस्थाओं, ट्रेडयूनियनों, और पब्लिक कार्पोरेशनों को प्रोत्साहन दें । परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके सारे प्रयत्न आर्थिक सुरक्षा और स्वतन्त्रता दोनों की सिद्धि करने के लिए होंगे । मैं जानता हूं कि यह कार्य एक समस्या है, जिसमें कठिनाइयां भरी पड़ी हैं, और जिसका हल करने में उत्तमोत्तम मस्तिष्क लगे हुए हैं । परन्तु यदि माननीय मूल्यों को बनाए रखना है और प्रजातन्त्रीय जीवन-प्रणाली को चलाना है तो इस समस्या का समाधान करना ही होगा ।

जैसा मैंने ऊपर कहा है, जवाहरलाल जी समाजवाद की किसी मानी हुई शाखा के अनुयायी नहीं हैं । यदि मुझसे उनकी विचारधारा को एक सरल शब्द समूह में समेट कर रखने के लिए कहा जाय तो मैं कहूंगा कि वह 'प्रजातन्त्रीय समाजवाद' है । उनके कर्म समाजवादी आदर्शों से प्रेरित होते हैं क्योंकि उनकी सम्पति में केवल वे ही आदर्श शाश्वत माननीय मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और उनके बिना एक पूर्ण, स्वतन्त्र और सहकारी जीवन असम्भव है ।

भारत में वे सामन्तशाही अर्थव्यवस्था का तत्काल अन्त करके राज्य और खेतिहर के बीच के मुनाफाखोर-वर्ग की समाप्ति करना चाहते हैं । परन्तु फिलहाल, वे प्रमुख उद्योगों के सामाजिक करण से सन्तुष्ट हो जायंगे और वैयक्तिक अध्यवसाय के लिए एक आर्थिक

क्षेत्र-भाग खुला छोड़ देंगे, यद्यपि उसमें भी वे राज्य का कुछ नियन्त्रण लगाना चाहेंगे। वे जन-समुदाय के लिये अधिकतम मात्रा में उत्तम, स्वतन्त्र, और रचनात्मक जीवन की व्यवस्था करना चाहते हैं। वे विश्वास करते हैं कि संयोजना के बिना जनता को आर्थिक स्वतन्त्रता मिलना असम्भव है और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए वे राज्य द्वारा बलप्रयोग की कुछ मात्रा को भी अवश्य बुराई मान कर चलने देंगे। परन्तु वे मूलतः प्रजातन्त्रवादी हैं, और इस बात का ध्यान रखेंगे कि जनतन्त्र का किसी भी बहाने से गला न घोंटा जाय। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे शांति, स्वतन्त्रता और प्रगति की स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाने के लिए कार्य करेंगे। यह संक्षेप में वह विश्वास है जो उनके विचारों और कार्यों को प्रेरित करता है।